

॥ श्रीः ॥

वि० आ० ग्रन्थमाला

२८



श्रीमद्भावमिश्रप्रणीतः

भावप्रकाशनिघण्टुः

सविमर्श-हिन्दीव्याख्योपेतः

(संशोधित परिवर्धित संस्करण)

विमर्शकार

डॉ० कृष्णचन्द्र चुनेकर, ए.एम.एस.

भूतपूर्व प्राध्यापकः द्रव्यगुण विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

डॉ० गंगासहाय पाण्डेय, ए.एम.एस.

भूतपूर्व प्राध्यापकः आयुर्वेद विभाग, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय,

तथा चिकित्सकः सरसुन्दरलाल आतुरालय,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

पोस्ट बॉक्स नं० १०६५

वाराणसी २२१००१ (भारत)

प्रकाशक

चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
पो. आ. बॉक्स नं. १०६५
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
टेलीफोन: ३३०३४९, ३३०३४५
३३२७०२, ३३२६३७
© चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी

पुनर्मुद्रित : २००२

मूल्य : ३५०/-



क्रियात्मक-औषधि परिचय विज्ञान (सचित्र)

आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी

मूल्य : १००-००

निघण्टु आदर्श

श्री बापालाल ग. वैद्य

१-२ भाग (सम्पूर्ण) मूल्य ६७५-००



शाखा

चौखम्भा विश्वभारती

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक एवं वितरक
के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
पो. आ. बॉक्स नं. १०८४
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

सुरभि प्रिन्टर्स वाराणसी

V. AYURVEDA SERIES

28



BHĀVAPRAKĀSA NIGHANTU

(INDIAN MATERIA MEDICA)

OF

ŚRĪ BHĀVAMIŚRA

(c. 1600-1600 A.D.)

Commentary by

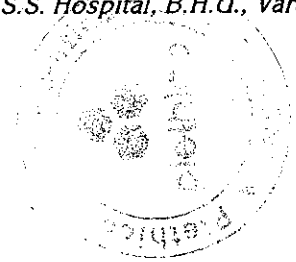
Dr. K. C. CHUNEKAR, A.M.S.

*Ex-Lecturer, Department of Dravyaguna,
Institute of Medical Sciences, B.H.U., Varanasi*

Edited by

Dr. G. S. PANDEY, A.M.S.

*Ex-Lecturer, Ayurveda Department, College of Medical,
Sciences and Physician, S.S. Hospital, B.H.U., Varanasi*



CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publisher and Distributor of Monumental Treatises of the East

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

P. O. Box No. 1065

VARANASI-221001 (INDIA)

Publishers:

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publishers and Distributors of Monumental Treatises of the East

P. O. Box No. 1065

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

Varanasi-221001 (India)

Telephone 330349, 330345 (O)

332702, 332637 (R)

© Chaukhambha Bharati Academy, Varanasi

Reprint : 2002

Branch

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Oriental Publishers and Distributors

P. O. Box No. 1084

K. 37/109, Gopal Mandir Lane

Varanasi-221001 (India)

विषय-सूची

हरीतक्यादिवर्गः	३
कर्पूरादिवर्गः	१७३
गुडूच्यादिवर्गः	२६६
पुष्पवर्गः	४७६
बटादिवर्गः	५१३
आम्रादिफलवर्गः	५५०
घातूपधानुरसोपरसरत्नोपरत्नविषोपविषविवर्गः	६०२
घान्यवर्गः	६३५
शाकवर्गः	६६३
मांसवर्गः	७०५
कृताश्ववर्गः	७२४
वारिवर्गः	७४७
दुग्धवर्गः	७५६
दधिवर्गः	७६७
तक्रवर्गः	७७१
नवनीतवर्गः	७७४
घृतवर्गः	७७५
सूत्रवर्गः	७७८
तैलवर्गः	७७९
सन्धानवर्गः	७८३
मधुवर्गः	७८८
इक्षुवर्गः	७९२
अनेकार्थनामवर्गः	७९८
कुछ प्रमुख अवशिष्ट द्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन	८०६
मूल निघण्टु में आये हुए संस्कृत पर्यायों की वर्णानुक्रमिका	८४३
वर्णानुक्रम से द्रव्यों के विभिन्न भाषाओं के नाम	८८७
द्रव्यों के लेटिन तथा अंग्रेजी नामों की वर्णानुक्रम सूची	९६१
शुद्धिपत्र	९८५

सङ्केत

अं०	अंग्रेजी	पहा०	पहाड़ी
अ०	अरबी	पाठा०	पाठान्तर
अफ०	अफगानी	फा०	फारसी
आसा०	आसामी	बं०	बंगाली
इरा०	इरानी	बंब०	बंबई
उ(डि)०	उडिया	भोटि०	भोटिया
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश	म०	मराठी
क०	कर्नाटक	मल०	मलयालम
क० अ०	कल्पस्थान अध्याय	मा०	मारवाड़ी
काश्मी०	काश्मीर	मि० ग्रा०	मिलीग्राम
काठी०	काठियावाड	मि० मि०	मिलीमीटर
कुमा०	कुमाऊँ	मुंगे०	मुंगेर
कों०	कोंकणी	यू०	यूनानी
खासि०	खासिया	र०	रत्ती
गढ०	गढवाल	रा० नि०	राजनिघण्टु
गु०	गुजराती	रा० पु०	राजपुताना
गो०	गोवा	लि०	लिपचा
ग्रा०	ग्राम	ले०	लेटिन
च०	चरक	सं०	संस्कृत
चि०	चिकित्सास्थान	सन्ता०	सन्ताल
ता०	तामिल	सि०	सिन्धी
तु०	तुलु	सिलो०	सिलोनी
ते०	तेलगु	सु०	सुश्रुत
द०	दक्षिण	सू०	सूत्रस्थान
घ० नि०	घन्वन्तरीय निघण्टु	हि०	हिन्दी
ने०	नेपाली	Fam.	Family
पं०	पंजाबी	Syn.	Synonym (पर्याय)

सम्पादकीय

सृष्टि के प्रारम्भ काल से व्याधियों के निराकरण के लिये वानस्पतिक द्रव्यों का प्रयोग होता चला आया है। प्रारम्भ में वनस्पतियों का चिकित्सा में प्राकृतिक स्वरूप में ही उपयोग होता रहा। धीरे-धीरे रासायनिक तत्वों या कार्यकारी घटक द्रव्यों के अनुसंधान एवं जीव रासायनिक रचना शृङ्खलाओं के विज्ञान के अनुसंधान के कारण आज तक विकसित हुये नवीनतम वानस्पतिक औषध द्रव्यों का प्रयोग हो रहा है। प्रारम्भ में मानव जीवन अधिक स्वाभाविक रूप में रहने तथा छोटे-छोटे जनपदों में निवास करने और चिकित्सोपयोगी वानस्पतिक समुदाय के निकट रहने के नाते उनसे भली प्रकार परिचित रहता था। बाद के दिनों में बड़े जन समुदायों में निवास करने एवं वनस्पति सम्पदा के सान्निध्य से दूर रहने की परिस्थिति में चिकित्सा विषय के अध्येताओं एवं अध्यापकों को इस बात की आवश्यकता का अनुभव हुआ कि भेषज्य संहिताओं—निघण्टु ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण परिचयात्मक साहित्य संग्रहीत किया जाय और उन वनस्पतियों का प्रत्यक्ष स्वरूप जानने के लिये जंगलों में निवास एवं विहार करने वाले आभीर, कोल्ह, किरात, शिकारी एवं तपस्वी वर्ग से परिचय प्राप्त किया जाय।

गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः ।

मूलजातिश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥

प्रायो जनाः सन्ति वनेचरास्ते गोपादयः प्राकृतनामसंज्ञाः ।

प्रयोजनार्था वचनप्रवृत्तिर्यस्मात्ततः प्राकृतमित्यदोषः ॥

धीरे-धीरे चिकित्सकों का वानस्पतिक जगत् से प्रत्यक्ष सम्बन्ध टूटने लगा और चिकित्सा साहित्य में निर्दिष्ट वनस्पतियों का परिचय ही उनके परिज्ञान के लिये अपर्याप्त होते हुए भी पर्याप्त स्वीकार किया जाने लगा। इस परिस्थिति में वनस्पतियों के क्षेत्र में अनेक भ्रान्तियों का समावेश होना स्वाभाविक था। इतने विशाल देश में असंख्य भाषाओं, लिपियों, मान्यताओं, रूढ़ियों आदि के कारण तथा विभिन्न क्षेत्रों की वानस्पतिक सम्पदा के विचित्र स्वरूप होने के कारण और एक ही नाम से अनेक वनस्पतियों के अभिधान के कारण तथा रचनाकारों के पर्याय प्रेम के कारण उत्तर कालीन वनस्पतिवेत्ताओं के सामने वनस्पतियों के असन्दिग्ध निर्णय की समस्या जटिलतम होती गई। इस कठिनाई के निराकरण

के लिये अनेक निघण्टुओं का निर्माण ऋषिकल्प अधिकारी वनस्पति वेत्ताओं ने किया जिनमें धन्वन्तरि निघण्टु या गुडूब्यादि निघण्टु, मदन विनोद या मदनपाल निघण्टु, अभिधान चूड़ामणि या राज निघण्टु एवं भाव प्रकाश निघण्टु प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन निघण्टुओं के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण निघण्टु ग्रन्थों का एवं द्रव्यगुण शास्त्र के अभिन्न विद्वानों का उल्लेख चिकित्सा साहित्य के वर्तमान ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलता है। किन्तु पूर्ण या खण्डित प्रति के रूप में वनौषधि विषयक दूसरी विशिष्ट रचनायें उपलब्ध नहीं हैं।

उपरिनिर्दिष्ट सभी निघण्टु ग्रन्थ बड़े महत्व के तथा द्रव्य-गुणों की अनमोल संग्रहात्मक रचनायें हैं। सबकी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। इनमें भावमिश्र कृत द्रव्यगुणसंग्रह या भावप्रकाशनिघण्टु का उसकी सरलता के कारण एवं आधुनिक चिकित्सा महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में अन्तर्भाव होने के कारण व्यापक प्रसार हुआ है। भावप्रकाशनिघण्टु की लघु एवं दीर्घ कलेवर की अनेक व्याख्यायें उपलब्ध हैं। किन्तु काल प्रभाव से जिन दोषों का अन्तर्भाव वनस्पतियों के व्याख्यान के क्षेत्र में अभिनिविष्ट होता गया, उपलब्ध अधिकांश व्याख्याओं में भी वह गुण-दोष उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता रहा है। हम लोग कमरे में बैठ कर चार छः महत्व के आकर ग्रन्थों के सहारे अपनी कल्पनात्मक कूची के जोर से वनस्पतियों के चित्र खींचते जाते हैं, चाहे हमने उन वनस्पतियों का दर्शन स्वप्न में भी न किया हो। इस प्रकार की जटिलताओं के कारण द्रव्यगुण-विज्ञान का अध्ययन एवं अध्यापन बड़ा अप्रिय, नीरस एवं आयासकर विषय हो गया है। निघण्टु क्षेत्र की इन कठिनाइयों का निराकरण करने की चेष्टा भावप्रकाश-निघण्टु के वर्तमान संस्करण में की गई है।

मेरे मित्र श्री कृष्णचन्द्र चुनेकर, प्राध्यापक, स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय अनुसन्धान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपना जीवन ही द्रव्यगुण साहित्य के परिष्कार के लिये अर्पित कर दिया है। पिछली दो दशकियों से आपने इस क्षेत्र के विशिष्ट वाङ्मय का पर्यालोचन करने के अतिरिक्त व्यावहारिक रूप में वनस्पतियों का प्रत्यक्ष परिचय पाने के लिये प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत के गहन जंगलों की यात्रायें की हैं। वनस्पतियों का परिचय एवं स्वरूप निर्धारण, आधुनिक पाश्चात्य वर्गीकरण की दृष्टि से उनका अभिज्ञान आदि विषयों की उपलब्धि उनको इस क्षेत्र के सर्वमान्य वनौषधिवेत्ता आदरणीय प्रो० बलवन्तसिंह जी से प्राप्त हुई है। उनके साथ श्री चुनेकर जी ने उत्तरा खण्ड की तराइयों-चकराता, काश्मीर, देहरादून एवं विन्ध्यक्षेत्र की वनस्पतियों के लिये चित्रकूट अमरकण्टक आदि का पर्यटन किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वनौषधि संग्रहालय-

हरबेरियम का वर्षों तक सञ्चालन करते हुए उसका गौरवपूर्ण प्रतिमान उपस्थित किया है। आपके सहयोग से भावप्रकाश-निघण्टु के पिछले तीन संस्करण पाठकों के सामने आ चुके हैं और उनका पर्याप्त समादर हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण में विमर्श का आद्यान्त परिष्कार, अद्यतन वनौषधि अनुसन्धान साहित्य का अन्तर्भाव एवं प्रत्येक वनस्पति का यथाशक्ति असंदिग्ध परिचय देने की चेष्टा की गई है। उन वनस्पतियों के शास्त्रोक्त विशिष्ट आमयिक प्रयोगों का भी यथास्थल उल्लेख किया गया है। संस्कृत के मूल श्लोकों का हिन्दी अनुवाद, भेषज द्रव्यों के भिन्न भारतीय भाषाओं में प्रचलित सही नाम, उनके अंग्रेजी व लैटिन के स्वीकृत नाम, वनस्पतियों के उत्पत्ति-स्थान, उनका विशिष्ट परिचय, रासायनिक संगठन आदि का यथाशक्ति सही-सही वर्णन किया गया है। संदिग्ध एवं विवादास्पद स्थलों पर विभिन्न विद्वानों के विचार एवं मतभेद के आधार के उल्लेख की चेष्टा की गई है। अनेक परिशिष्टों के अलंकरण से इस संस्करण को अतीव उपयोगी बनाया गया है।

इस प्रकार के कार्य में कितना श्रम पड़ता है इसका अनुभव सम्बद्ध विषयों के ज्ञाता ही कर सकते हैं। वनस्पतियों के भिन्न-भिन्न भाषाओं के नामों का एवं एक ही वनस्पति के भिन्न प्रान्तों में दूसरे अभिधानों से उल्लेख होने के कारण और अनेक वनस्पतियों का एक ही नाम से उल्लेख होने के कारण उत्पन्न भ्रान्तियों का निराकरण करने के लिए आपको केवल एक ही वनस्पति के लिये महीनों श्रम करना पड़ा है।

श्री चुनेकर जी को यह लगन, कर्मठता एवं ज्ञान अपने पिता आयुर्वेदीय क्षेत्र के मर्मज्ञ, कुशल चिकित्सक अपने समय के दिग्दिगन्त विख्यात पीयूषहस्त स्व० त्र्यम्बक शास्त्री के षट् शिष्य, पूज्य श्री श्रीनिवास शास्त्री जी से प्राप्त हुआ है। प्राचीन वैद्य परम्परा में सम्भवतः श्री श्रीनिवास जी शास्त्री ही एकमात्र ऐसे विद्वान् व्यक्ति हैं जिन्हें आधुनिक रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र तथा तकनीकशास्त्र (Technology) का आधुनिकतम परिज्ञान प्राप्त है। और पचासी वर्ष की अवस्था में अध्ययन-अध्यवसाय में निरन्तर लगे रहकर 'यावज्जीवमधीते विप्रः' की परम्परा को गति प्रदान कर रहे हैं।

विश्वास है, भावप्रकाशनिघण्टु का प्रस्तुत संस्करण वानस्पतिक द्रव्यगुण-विज्ञान विषयक साहित्य का अध्ययन, अध्यापन, अनुसन्धान करने वाले एवं वैद्यक व्यवसाय से सम्बद्ध महानुभावों के लिये पूर्वापेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

औषधीय वनस्पतियों का शास्त्रसम्मत, अनुसन्धान सिद्ध एवं प्रत्यक्ष परिज्ञान के द्वारा उपबृंहित विवेचन के लिये मैं अपने मित्र श्री कृष्णचन्द्र जी चुनेकर को साधुवाद देते हुए उनके मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ। भगवान् घन्वन्तरि की कृपा से इनके द्वारा भविष्य में आयुर्वेद जगत की निरन्तर सेवा होती रहेगी।

आयुर्वेदीय वाङ्मय की श्री-समृद्धि के महत् अनुष्ठान में चौखम्भा परिवार का विशेष योगदान रहा है। प्राच्यविद्या के प्रकाशन का उनका अपना कीर्तिमान है। अनेक प्रकाशन व्यक्तियों के होने पर भी चौखम्भा परिवार ने इस श्रेणी के साहित्य का प्रकाशन अनवरत रूप में किया है—एतदर्थ उनकी श्री-समृद्धि की कामना के साथ उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में ग्रन्थ की उपयोगिता के सही मूल्यांकन के लिये आयुर्वेद समाज से साग्रह अनुरोध है कि भविष्य में परिष्कार के लिये समुचित परामर्श देकर चिकित्सा साहित्य की श्री-वृद्धि में सहायक हों।

गङ्गादशहारा
वि० सं० २०२६

गंगासहाय पाण्डेय

प्राक्कथन

यदुपज्ञं हि विज्ञानं द्रव्यस्य गुणकर्मणोः।

भ्रिषगिभवेन्दितायास्मै भावमिश्राय मे नमः ॥

आचार्य भावमिश्र ने ई० सं० १५००-१६०० में एक ऐसे अपूर्व आयुर्वेदीय चिकित्सा ग्रन्थ का निर्माण किया जो प्राचीन संहिता ग्रन्थों की शृंखला में अन्तिम कड़ी कहा जा सकता है। इसमें द्रव्यगुण संबंधी विषय का जो प्रतिपादन किया गया है वह पूर्ववर्ती निघंटुओं (कोश) की अपेक्षा परिष्कृत एवं तत्कालीन प्रचलित नवीनतम अनुसन्धानों की आत्मसात् करते हुए किया गया है, जैसे द्वीपान्तरवचा, पारसीक यवानी आदि का सर्व प्रथम उल्लेख इसी में है। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण इस ग्रन्थ का द्रव्यगुण विषयक भाग 'भावप्रकाशनिघण्टु' के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा अनेक आयुर्वेदीय संस्थाओं में पाठ्यग्रन्थ के रूप में इसका उपयोग किया जा रहा है। इसमें सभी प्रकार के द्रव्यों—? औद्धिद (वृक्ष, गुल्म, लता आदि—Plants), २ प्राणिज (Animals) एवं पार्थिव (Minerals) के गुणकर्मों का आयुर्वेदीय पद्धति से वर्णन दिया हुआ है। मूल ग्रन्थ संस्कृत में श्लोकबद्ध होने से युगानुरूप उसकी व्याख्या की आवश्यकता थी और इस दिशा में अनेक प्रयत्न भी हुए। प्रस्तुत व्याख्या उसी दिशा में एक और प्रयत्न है।

इस व्याख्या में संस्कृत के मूल श्लोकों का हिन्दी अनुवाद, द्रव्यों के विभिन्न भारतीय भाषाओं के नाम, अंग्रेजी तथा लेटिन नाम, वनस्पतियों के उत्पत्ति स्थान, संक्षेप में उनका परिचय, रासायनिक संगठन, गुण, प्रयोग एवं यथा संभव मात्रा आदि का उल्लेख किया गया है। संदिग्ध द्रव्यों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है जिसमें एक नाम से लिये जाने वाले अनेक द्रव्यों का पृथक्-पृथक् वर्णन दिया गया है, जो संदिग्ध द्रव्य निर्णय में सहायक होगा। प्रत्येक द्रव्य के वर्णन के साथ कुछ विशिष्ट वक्तव्य 'नोट' के रूप में लिखा गया है जो उसके भेदोपभेद, अन्य विद्वानों के उसके संबंध में विचार, वादयस्तता, अन्य निघंटुओं एवं संहिता ग्रन्थों के वर्णन से तुलना तथा अनुसन्धान के क्षेत्र आदि पर व्यापक प्रकाश डालता है। संक्षेप में प्रत्येक द्रव्य के संबंध में प्राचीन काल से लेकर अब तक के जो भी विचार रहे हैं उनका संकलन किया गया है जो आगे अनुसन्धान में सहायक होगा। चूँकि रसशास्त्र एक स्वतंत्र विषय के रूप में अब विकसित हो

चुका है इसलिये तत्सम्बन्धी भाग में केवल मूल श्लोकों का अनुवाद मात्र ही दिया गया है, उसकी व्याख्या नहीं की गई है। व्याख्या में प्रधानता औद्धिद द्रव्यों को ही दी गई है। परिशिष्ट १ में उन सभी प्रमुख द्रव्यों का संक्षेप में वर्णन किया गया है जिनका उल्लेख मूल में या टीका के संदर्भ में नहीं है। परिशिष्ट २ में केवल मूल में आये संस्कृत के सभी पर्यायवाची नामों को अकारादिक्रम से उपस्थित किया गया है जिससे इस बात का ज्ञान हो सके कि अमुक द्रव्य का भावप्रकाश-निघण्टु में उल्लेख हुआ है या नहीं। इसमें प्रत्येक पर्याय के आगे उस द्रव्य का प्रमुख-नाम भी साथ में दिया गया है। इसके पश्चात् सभी द्रव्यों के भारतीय नामों की अकारादिक्रम से सूची दी गई है। इसी में अन्य संस्कृत नामों का भी समावेश है जिनका मूल श्लोकों में उल्लेख न होने से प्रथम संस्कृत सूची में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता था। अन्त में लैटिन एवं अंग्रेजी नामों की भी वर्णानुसार सूची दी गई है।

इस व्याख्या का सम्पूर्ण श्रेय मेरे गुरुवर्य, परमपूज्य आदरणीय डॉ० गंगासहाय पाण्डेय जी को है जिन्होंने न केवल इस व्याख्या को तैयार करने में निदेशक का कार्य किया अपितु लेखक को इस योग्य बनाने में भी उनका बरदहस्त रहा है।

आयुर्वेदीय वनस्पतियों के प्रकाण्ड विद्वान्, महान् वैज्ञानिक, आयुर्वेद शिरोमणि, श्री डा० बलवन्तसिंह जी, एम० ए० सी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, आयुर्वेदिक कालेज, का० हि० वि० वि०, जिन्होंने अपना सारा जीवन ही आयुर्वेदीय वनस्पतियों के अन्वेषण में लगाया एवं जिनके शिष्यत्व का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ उनको यह कृति समर्पण करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। हमारी यही कामना है कि इसी तरह उनका मार्गदर्शन हमें आजीवन मिलता रहे।

यह व्याख्या वास्तविक रूप में संदर्भ-ग्रन्थ सूची में उल्लिखित कृतियों का संकलन मात्र ही है इसलिये मैं उन सभी महान् विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ। चौखम्भा परिवार के सभी सदस्यों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिनकी सहायता के बिना यह कार्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो ही नहीं सकता था।

आशा है, यह व्याख्या न केवल विद्यार्थियों को अपितु अध्यापकों तथा वनस्पति अनुसन्धानकर्ताओं को भी उपादेय होगी। संभव है, इसमें कुछ त्रुटियाँ भी रह गई हों जिनके लिये विद्वान् क्षमा करेंगे तथा अपने सुझाव देगे जिससे अगले संस्करण में इनका परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

कृष्णचन्द्र चुनेकर

दिनांक २६ मई १९६६

संदर्भग्रन्थ

- १ अष्टांग संग्रह संहिता, टीका श्री अत्रिदेव गुप्त, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९५१।
- २ अष्टांगहृदय कोष, श्री वैद्य के० एम० बलापाड, द० मलाबार, १९३६।
- ३ अष्टांगहृदय संहिता, टीका अरुणदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९२५।
- ४ अभिनव बूटी दर्पण, भाग १-२, श्री रूपलाल वैश्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९४७।
- ५ अमरकोश, टीका रामाश्रमी, ६ टी० आ०, निर्णयसागर प्रेस बंबई, १९४४।
- ६ ओषधीसंग्रह (मराठी), डा० वा० रा० देसाई, वैद्य या० त्रि० आचार्य, बंबई, १९२७।
- ७ काश्यपसंहिता, टीका श्री सरयपाल, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९५३।
- ८ कैयदेव निघण्टुः (पद्यापथ्य विबोधक ग्रन्थः) टीका श्री कविराज सुरेन्द्र मोहन, दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, लाहोर, १९२८।
- ९ चक्रदत्त, टीका श्री जगदीश्वर प्रसाद त्रिपाठी, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी १९४९।
- १० चरकसंहिता, टीका चक्रपाणि, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४१।
- ११ द्रव्यगुणविज्ञानम् ट०, द्वि० ख० श्री बादवजी श्री त्रिक्रमजी आचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बंबई—२, १९५०।
- १२ द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २-३, श्री प्रियव्रत शर्मा, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९५६।
- १३ निघण्टु रत्नाकर, टीका श्री कृष्ण शास्त्री बबरे, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९३६।
- १४ निघण्टु आदर्श (गुजराती), भाग १-२, श्री वैद्य बापालाल रा० शाह, हंसोट, जि० भ्रौच, १९२७-२८।
- १५ प्रारम्भिक उद्धिद शास्त्र, श्री डा० बलवन्तसिंह, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९४९।
- १६ बिहार की वनस्पतियों, श्री डा० बलवन्तसिंह, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता, १९५५।
- १७ भारतीय वनौषधि (बंगला), भाग १-३, श्री कालीपद विश्वास, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १०५०।
- १८ भावप्रकाश, टीका श्री लाला शालिग्राम वैश्य, खेमराज श्री कृष्णदास, बंबई, १९०७।
- १९ भावप्रकाश निघण्टु, टीका श्री विश्वनाथ द्विवेदी, द० सं०, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १०५४।
- २० मदनविनोद, टीका श्री नन्दकिशोर शास्त्री, वाराणसी, १९३४।
- २१ यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान, श्री डा० बलजीत सिंह, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४९।
- २२ राजनिघण्टुसहितो धन्वन्तरीयनिघण्टुः, टीका श्री नारायण विट्ठल पुरंदरे, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, १९९६।
- २३ वनस्पति परिचय, श्री अन्तूभाई वैद्य, आयुर्वेद रिसर्च इंस्टिट्यूट, फोर्ट, बंबई, १९५३।
- २४ वनौषधि चन्द्रोदय, भाग १-१०, श्री चन्द्रराज भण्डारी, ज्ञानमन्दिर, आनपुरा (हजूर), १०३८।
- २५ वनौषधि दर्शिका, श्री डा० बलवन्तसिंह, आयुर्वेदिक कालेज यूनिवर्सिटी, का० हि० वि०, वाराणसी, १९४८।
- २६ वृन्दसाधन, आनन्दाश्रम, पूना, १९४३।
- २७ वैद्यक शब्दसिन्धुः, श्री कविराज उमेशचन्द्र गुप्त, कलकत्ता, १९३४।

- २८ शालिग्राम निघण्टु भूषण, श्री लाला शालिग्राम वैश्य, खेमराज श्री कृष्णदास, बंबई, १९५३।
 २९ सन्दिग्धनिर्णय वनौषधशास्त्र, भाग १-९, श्री पं० भगीरथ स्वामी, १९३ हरीसन रोड, कलकत्ता, १९३६।
 ३० सचित्र वनस्पति गुणादर्श, भाग १-२, श्री वैद्य हिरामण मोतीराम जंगले, वाघडी, पूर्वखानदेश, महाराष्ट्र।
 ३१ सुश्रुतसंहिता, टीका डबहण, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१६।

REFERENCES

- 1 Anonymous A Consolidated Glossary of Technical terms, Central Hindi Directorate, Delhi, 1962.
- 2 " Handbook of Agriculture, I. C. A. R., New Delhi, 1961.
- 3 " Pharmacopoeia of India, Ministry of Health, New Delhi, 1955.
- 4 " The Wealth of India (Raw Materials), Vols. 1-6, C. S. I. R., New Delhi, 1948-1962.
- 5 Aiyer, K. Narayan, Pharmacognosy of Ayurvedic Drugs of Travancore Cochin, Nos. 1-9, Central Research Institute, Trivandrum, 1951-1966.
- 6 Apte, V. S., Sanskrit English Dictionary.
- 7 Aykroyd, W. R., Gopalan, G., Balsubramanian, S. C., The Nutritive Value of Indian Foods and the Planning of Satisfactory Diets, 6th edn., I. C. M. R., New Delhi, 1963.
- 8 Bailey, L. H., Standard Cyclopaedia of Horticulture, Vols. 1-3, The Macmillan Co., New-York, 1947.
- 9 Blatter, E., Beautiful Flowers of Kashmir, Vols. 1-2, John Bale, Sons & Danielsson Ltd., London, 1929.
- 10 Blatter, E., Millard, W. S., Stearn W., Some Beautiful Indian Trees, 2nd edn., The Bombay Natural History Society, Bombay, 1924.
- 11 Chopra, R. N., Chopra, I. C., Handa, K. L., Kapur, L. D., Chopra's Indigenous Drugs of India, 2nd edn., U. N. Dhar & Sons Pvt. Ltd., Calcutta-12, 1958.
- 12 Chopra, R. N., Nayar, S. L., Chopra, I. C., Glossary of Indian Medicinal Plants, C. S. I. R., New Delhi, 1956.
- 13 Chopra, R. N., Badhwar, R. L., Ghosh, S., Poisonous Plants of India, Vols. 1-2, I. C. A. R., New Delhi, 1949, 1965.
- 14 Chopra, R. N., Chopra, I. C., A Review of Work on Indian Medicinal Plants, I. C. M. R., New Delhi, 1955.

- 15 Claus, E. P., Pharmacognosy, 4th edn., Lea & Febiger, Philadelphia, 1961.
- 16 Cooke, T., Flora of Bombay, Vols. 1-3, Botanical Survey of India, Calcutta, Reprt. 1958.
- 17 Cowen, D. V., Flowering Trees and Shrubs, Thacker & Co. Ltd., Bombay, 1950.
- 18 Dastur, J. F., Medicinal Plants of India and Pakistan, D. B. Taraporewala Sons & Co. Ltd., Bombay-1, 1951.
- 19 Dey, K. L., Indigenous Drugs of India, Thacker Spink & Co., Calcutta, 1896.
- 20 Duthie, J. F., Flora of Upper Gangetic Plain, Vols. 1-2, Botanical Survey of India, Calcutta, reprt., 1960.
- 21 Dutta, A. C., A Class-Book of Botany, 6th edn., Humphrey Milford, Oxford University Press, Calcutta, 1945.
- 22 Dutt, U. C., The Materia Medica of Hindus, M. C. Das, 146, Lower Chitpore Road, Calcutta-1, 1922.
- 23 Dymock, W., Warden, C. J. H., Hooper, D., Pharmacographia Indica, Vols. 1-3, Trubner & Co., London, 1890-99.
- 24 Firminger, T. A., Firminger's Manual of Gardening for India, 8th edn., Thacker Spink & Co. Ltd., Calcutta, 1947.
- 25 Ghosh, R., Materia Medica & Therapeutics, 18th edn., Hilton & Co., Calcutta, 1949.
- 26 Greenish, H. G., The Microscopical Examination of Foods and Drugs, 3rd edn., J. & A. Churchill, London, 1923.
- 27 Haines, H. H., Botany of Bihar & Orissa, Botanical Survey of India, Calcutta, reprt., 1961.
- 28 Hocking, G. M., A Dictionary of Terms in Pharmacognosy, Charles C. Thomas, Springfield, Illinois, 1955.
- 29 Hooker, J. D., Flora of British India, Vols. 1-7, L. Reeve & Co., London, 1872-1897.
- 30 Jain, S. K., Medicinal Plants, National Book Trust, New Delhi, 1968.
- 31 Johansen, D. A., Plant Microtechnique, Mc.Graw-Hill Book Co., London, 1940.
- 32 Kanjilal, U. N., Kanjilal, P. C., Das, A., Flora of Assam, Vols. 1-5, Government of Assam, 1935.
- 33 Kirtikar, K. R., Basu, B. D., Indian Medicinal Plants, 2nd edn., L. M. Basu, Allahabad, 1933.
- 34 Krishnamurthi, S., Horticultural and Economic Plants of the Nilgiris, Coimbatore, 1953.
- 35 Macmillan, H. F., Tropical Planting and Gardening, 5th edn., Macmillan & Co., London, 1962.

- 36 Maheshwari, P., Singh, U., Dictionary of Economic Plants in India, I. C. A. R., New Delhi, 1965.
- 37 Mc. Cann, C., 100 Beautiful Trees of India, Bombay, 1950.
- 38 Mooss, N. S., Ayurvedic Flora Medica, No. 1, Vaidyasarathy, Kottayam, 1953.
- 39 Mukerji, B., The Indian Pharmaceutical Codex, Vol. 1, C.S.I.R., New Delhi, 1953.
- 40 Nadkarni, A. K., Indian Materia Medica, Vols. 1-2, 3rd edn. Popular Book Depot, Bombay-7, 1954.
- 41 Pal, B. P., Beautiful Climbers of India, I. C. A. R., New Delhi, 1960.
- 42 Prain, D., Bengal Plants, Botanical Survey of India, Calcutta, rept. 1963.
- 43 Pratt, R., Youngken, H. W., Pharmacognosy, 2nd edn., J. B. Lippincott Co., Montreal, Philadelphia, 1956.
- 44 Raghuvira, Elementary English-Indian Dictionary of Scientific Terms, Sarasvati vihar, Delhi, 1950.
- 45 Ramstad, E., Modern Pharmacognosy, Mc.Graw-Hill Book Co. Inc., London, 1959.
- 46 Randhava, M. S., Flowering Trees in India, I. C. A. R., New Delhi, 1957.
- 47 Randhava, M. S., Beautiful Trees and Gardens, I. C. A. R., New Delhi, 1961.
- 48 Randhava, M. S., Flowering Trees, National Book Trust, New Delhi, 1965.
- 49 Torfrida, Flowering Trees of India, Thacker & Co., Bombay, 1947.
- 50 Trease, G. E., A Textbook of Pharmacognosy, 8th edn., Baillere Tindal & Cox, London, 1961.
- 51 Uphof, J. C. Th., Dictionary of Economic Plants, Hafner Publishing Co., New York, 1959.
- 52 Wallis, T. E., Practical Pharmacognosy, 5th edn., J. A. Churchill Ltd., London, 1948.
- 53 Wallis, T. E., Text Book of Pharmacognosy, 3rd edn., J. & A. Churchill Ltd., London, 1955.
- 54 Watt, G., A Dictionary of the Economic Products of India, Vols. 1-6, Calcutta, 1889-99.
- 55 Wight, R., Icones Plantarum India Orientalis.
- 56 Willis, J. C., A Dictionary of the Flowering Plants and Ferns, 6th edn., University Press, Cambridge, 1951.

भावप्रकाशनिघण्टुः

अथ हरीतक्यादिवर्गः

रसगुणवीर्यविपाकप्रभावानां स्वरूपाण्यभिधाय कुत्र द्रव्ये के रसगुणवीर्यविपाकप्रभावाः सन्तीति बोधयितुं द्रव्यगतान् रसगुणवीर्यविपाकप्रभावानाह ।

तत्र प्रथमं हरीतक्या उत्पत्तिनामलक्षणगुणानाह

दक्षं प्रजापतिं स्वस्थमश्विनौ वाक्यमूचतुः । कुतो हरीतकी जाता तस्यास्तु कति जातयः ।

रसाः कति समाख्याताः कति चोपरसाः स्मृताः ।

नामानि कति चोक्तानि किं वा तासां च लक्षणम् ॥ २ ॥

के च वर्णा गुणाः के च का च कुत्र प्रयुज्यते । केन द्रव्येण संयुक्ता कांश्च रोगान्वयोहति ॥ प्ररनमेतद्यथा पृष्टं भगवन्ब्रह्मर्हसि । अश्विनीर्वचनं श्रुत्वा दक्षो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

पपात बिन्दुमैदिन्यां शक्रस्य पिबतोऽमृतम् । ततो दिव्यात्समुत्पन्ना सप्तजातिर्हरीतकी ॥ ५ ॥

रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव के स्वरूपों को कहकर किस द्रव्य में कौन रस, कौन गुण, तथा कैसा वीर्य, विपाक एवं प्रभाव रहता है, इन सब को बताने के लिये प्रत्येक द्रव्यगत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव का वर्णन करते हैं । उसमें प्रथम हरीतकी (हरड़) की उत्पत्ति, नाम, लक्षण तथा गुणों को कहते हैं—

एक समय स्थिर चित्त से बैठे हुए भगवान् दक्ष प्रजापति से दोनों अश्विनीकुमारों ने यह बात कही कि—हे भगवान् ! हरीतकी (हरड़) कहां से उत्पन्न हुई ? और उसकी कितनी जातियाँ हैं ? तथा उसमें प्रधान रूप से कौन-कौन रस और कौन-कौन उपरस कहे हुये हैं ? एवं उसके कितने नाम कहे हुये हैं ? और उन सबों के क्या-क्या लक्षण हैं ? और उनका वर्ण कैसा है ? उनमें गुण कौन-कौन हैं ? और किस जाति के हरड़ का किस कार्य में प्रयोग किया जाता है ? तथा किन द्रव्यों के साथ संयोग होने पर किन रोगों को दूर करती हैं ? इन उपर्युक्त प्रश्नों का जैसा मैंने पूछा है वैसा ही आपको उत्तर देना उचित है । इस प्रकार से दोनों अश्विनीकुमारों के वचनों को सुन कर दक्षप्रजापति ने यह कथा कि—एक समय अमृत पान करते हुए भगवान् इन्द्र के मुख से देवाएँ एक बूँद अमृत पृथ्वी पर गिर पड़ी तब उसी दिव्य अमृत बिन्दु से सात जाति वाली हरीतकी उत्पन्न हुई ॥ १-५ ॥

अथ हरीतकीनामान्याह

हरीतक्यभया पथ्या कायस्था पूतनाऽमृता । हैमवत्यव्यथा चापि चेतकी श्रेयसी शिवा ॥ ६ ॥

वयस्था विजया चापि जीवन्ती रोहिणीति च ॥ ७ ॥

हरीतकी के नाम—हरीतकी, अभया, पथ्या, कायस्था, पूतना, अमृता, हैमवती, अव्यथा, चेतकी, श्रेयसी, शिवा, वयस्था, विजया, जीवन्ती तथा रोहिणी ये सब 'हरीतकी' के नाम हैं ॥ ६-७ ॥

अथ हरीतक्याः सप्तभेदानाह

विजया रोहिणी चैव पूतना चामृताऽभया । जीवन्ती चेतकी चैति पथ्यायाः सप्तजातयः ॥

हरीतकी के भेद—१ विजया, २ रोहिणी, ३ पूतना, ४ अमृता, ५ अभया, ६ जीवन्ती, ७ चेतकी
ये हरीतकी की सात जातियां (भेद) हैं ॥ ८ ॥

अथ समजाते हरीतक्या उत्पत्तिस्थानान्याह

['विन्ध्याद्रौ विजया हिमाचलभवा स्याच्चेतकी पूतना
सिन्धौ स्यादथ रोहिणी निगदिता जाता प्रतिस्थानके ।

१. कोष्ठस्थः पाठः काचित्कः ।

अभयाममृताऽभया च जनिता देशे सुराष्ट्राह्वये

जीवन्तीति हरीतकी निगदिता सप्त प्रभेदा बुधैः ॥ १ ॥]

हरीतकी के उत्पत्तिस्थान—विन्ध्य पर्वत पर विजया, हिमालय पर चेतकी, सिन्धु देश में पूतना, प्रत्येक स्थानों में रोहिणी, चम्पा देश में अमृता तथा अभया एवं सोरठ देश में जीवन्ती जाति की हरीतकी के उत्पन्न होने से उक्त प्रकार के सात भेद विद्वानों ने कहे हैं ॥ १ ॥

अथ तेषां पृथग्लक्षणान्याह

अलाबुवृत्ता विजया वृत्ता सा रोहिणी स्मृता । पूतनाऽस्थिमती सूक्ष्मा कथिता मांसलाऽमृता ॥
पञ्चरेखाऽभया प्रोक्ता जीवन्ती स्वर्णवर्णिनी । त्रिरेखा चेतकी ज्ञेया सप्तानामियमाकृतिः ॥ १० ॥

सात प्रकार की हरीतकी के पृथक् २ लक्षण—'विजया' हरीतकी लौकी की भाँति गोल, 'रोहिणी' का आकार गोल, 'पूतना' की गुठली बड़ी तथा आकार सूक्ष्म, 'अमृता' हरीतकी मांसल (गूदेदार), 'अभया' पांच रेखाओं से युक्त, 'जीवन्ती' सोने के समान रङ्ग वाली और 'चेतकी' तीन रेखाओं से युक्त होती है । इस प्रकार सातों प्रकार की हरीतकी के ये आकार हैं ॥ ९-१० ॥

अथ हरीतकीप्रयोगानाह

विजया सर्वरोगेषु रोहिणी व्रणरोहिणी । प्रलेपे पूतना योज्या शोधनार्थेऽमृता हिता ॥ ११ ॥
अहिरोगेऽभया शस्ता जीवन्ती सर्वरोगहृत् । चूर्णार्थं चेतकी शस्ता यथायुक्तं प्रयोजयेत् ॥
चेतकी द्विविधा प्रोक्ता श्वेता कृष्णा च वर्णतः । षडङ्गुलायता शुक्ला कृष्णा श्वेताऽङ्गुला स्मृता ॥
काचिदास्वादमात्रेण काचिद्गन्धेन भेदयेत् । काचित्स्पर्शेन दृष्ट्याऽन्या चतुर्धा भेदयेच्छिवा ॥
चेतकीपादपच्छायासुपसर्पन्ति ये नराः । भिद्यन्ते तस्मिन्नादेव पशुपत्सिमृगादयः ॥ १५ ॥
चेतकी तु घृता हस्ते यावत्तिष्ठति देहिनः । तावद्भिद्येत वेगैरसु भ्रमावासान्न संशयः ॥ १६ ॥
नृपाणां सुकुमारानां कृशानां भेषजद्विषाम् । चेतकी परमः शस्ता हिता सुखविरचनी ॥ १७ ॥
सप्तानामपि जातीनां प्रधाना विजया स्मृता । सुखप्रयोगा सुलभा सर्वरोगेषु शस्यते ॥ १८ ॥

हरीतकी के प्रयोग—'विजया' हरीतकी का प्रयोग सभी रोगों में होता है । 'रोहिणी' व्रण पूरण करनेवाली होती है । 'पूतना' का प्रलेप के लिये प्रयोग करना चाहिये । 'अमृता' शोधन कर्म के लिये हितकर है । आंख के रोगों में 'अभया' उत्तम होती है और 'जीवन्ती' सम्पूर्ण रोगों का हरण करने वाली होती है । एवं चूर्ण के लिये 'चेतकी' उत्तम होती है । अतः जिस जातिकी हरीतकी का जहाँ जिन रोगों में प्रयोग करना कहा हुआ है, उसका वहाँ पर प्रयोग करना चाहिये । 'चेतकी' श्वेत और कृष्ण दो प्रकार की होती है । उनमें शुद्ध वर्ण वाली ६ अङ्गुल की तथा कृष्ण वर्ण वाली एक अङ्गुल की लम्बी होती है । इनमें कोई हरीतकी खाने मात्र से, कोई सूघने से, कोई स्पर्श करने से तथा कोई देखने मात्र से ही मल का भेदन करती है अर्थात् दस्त साफ होता है । इस प्रकार हरी-

तकी चार प्रकार से दस्त कराती है । जो मनुष्य चेतकी जाति की हरड के पेड़ की छाया के नीचे पहुँच जाते हैं, उनको उसी समय दस्त आने लगता है । यहाँ तक कि पशु, पक्षी, मृगादि की भी यही दशा हो जाती है और 'चेतकी' हरड को जब तक प्राणी अपने हाथ में धारण किये रहता है, तब तक उसके प्रभाव से उसे वेग से दस्त होता रहता है, इसमें सन्देह नहीं है । जो राजा है तथा सुकुमार या कुश हैं किंवा विरेचक औषध खाने से भागनेवाले हैं, उनके लिये 'चेतकी' हरड परम हितकारी एवं उत्तम होती है । क्योंकि वह सुखपूर्वक दस्त लाती है । पूर्वोक्त सात जातियों में 'विजया' जाति की जो हरीतकी होती है, वही औरों की अपेक्षा प्रधान है क्योंकि सुलभ होने से उसका प्रयोग सुखपूर्वक होता है तथा वह सभी रोगों में देने के लिये भी उत्तम होती है ॥ ११-१८ ॥

अथ हरीतकीगुणानाह

हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम । रूक्षोष्णा दीपनी मेध्या स्वादुपाका रसायनी ॥
चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमिनी । श्वासकासप्रमेहार्शः कुष्ठशोथोदरक्रिमीन् ॥ २० ॥
वैस्वर्यग्रहणीरोगविबन्धविषमञ्चरान् । गुल्माध्माननृषाल्दिहिकारुणहृद्दामयान् ॥ २१ ॥
कामलां शूलमानाहं प्लीहानञ्च यकृतथा । अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रञ्च मूत्राघातञ्च नाशयेत् ॥

हरीतकी के गुण—हरड में लवण रस से भिन्न पांच (मधुर, अम्ल, कड़, कषाय, तिक्त) रस रहते हैं किन्तु औरों की अपेक्षा कषाय रस ही अधिक रहता है । हरीतकी रूक्ष, उष्णवीर्य, अग्नि-दीपक, मेधा (धारणाशक्ति) के लिये हितकारी, मधुर विपाकवाली, रसायन (वृद्धावस्था तथा व्याधियों को दूर करनेवाली), नेत्रों के लिये हितकर, पचने में लघु (जल्दी पचने वाली), आयु-वर्षक, बृंहण (शरीर में मांसादि की वृद्धि करने वाली) और अनुलोमन (मलादि को नीचे की ओर प्रेरित करने वाली) होती है । इसके सेवन से श्वास, कास, प्रमेह, ववासीर, कुष्ठ, शोथ, पेट के कुमि (अथवा उदर सम्बन्धी रोग और कुमि), स्वरभेद (आवाज की खराबी), ग्रहणी सम्बन्धी रोग तथा विबन्ध (मलमूत्रादि की विवद्धता अर्थात् रुक जाना), विषमञ्चर, गुल्म, उदरा-ध्मान, नृषा, यमन, हिचकी, खुजली, हृद्दोग, कामला, शूल, आनाह, प्लीहा, यकृत, अश्मरी (पथरी), मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात ये सब रोग दूर होते हैं ॥ १९-२२ ॥

अथ हरीतक्याः प्रभावनिबन्धनं दोषहन्तृत्वं न तु रसनिबन्धनमित्याह

स्वादुतिक्तकषायत्वात्पित्तहृत्कफहृत् सा । कटुतिक्तकषायत्वादम्लत्वाद्वातहृच्छिवा ॥ २३ ॥

पित्तकृत्कटुकाऽम्लत्वाद्वातकृत् कथं शिवा ॥ २४ ॥

प्रभावाद्दोषहन्तृत्वं सिद्धं यत्तत्प्रकाशयते । हेतुभिः शिष्यबोधार्थं नापूर्वं क्रियतेऽधुना ॥ २५ ॥
कर्मान्यत्वं गुणैः साध्यं दृष्टमाश्रयभेदतः । यतस्ततो नेति चिन्त्यं धात्रीलकुचयोर्था ॥ २६ ॥

हरीतकी का प्रभाव—हरड में मधुर, तिक्त और कषाय रस रहता है, अतएव यह पित्तनाशक और कड़ तिक्त तथा कषाय रस होने से कफनाशक है, तथा अम्ल रस होने से वायु का भी शमन करती है । अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि जब हरड में कड़ तथा अम्ल रस है, तब क्यों नहीं यह पित्त तथा वातकारक होती है ? इसका उत्तर यह है कि—यहाँ पर जो हरड तीनों दोषों को दूर करती है वह इसके प्रभाव से ही सिद्ध है किन्तु फिर भी जो ऊपर हेतुओं का निर्देश करते हुये 'दोषों का नाश करना' बताया गया वह शिष्यों को समझाने के लिये, क्योंकि यह (दोषों का नाश करना) कोई अपूर्व बात नहीं कही गई, बल्कि जो कही गई वह उसके प्रभाव से पहले से ही सिद्ध थी । तात्पर्य यह है कि वस्तुतः हरड जो दोषों का नाश करती है वह अपने प्रभाव से ही करती है । फिर जो पूर्व में यह कहा गया है कि—'मधुरादि रस होने से पित्तनाशक,

कड़ु तिक्तादि रस होने से कफनाशक, एवं अम्ल रस होने से वातनाशक, वह केवल शिष्यों को समझाने के लिये अर्थात् 'इन २ रसों में इन २ दोषों को दूर करने की शक्ति रहती है', शिष्यों को यही बात समझाने के लिये हेतुओं का निर्देश करते हुये हरड़ की त्रिदोषनाशकता बताई गई और जब कि—समान गुणों से युक्त होते हुये भी आश्रय भेद से द्रव्यों के कर्म में भिन्नता देखी जाती है तब हरड़ में स्थित जो कड़ु तथा अम्ल रस हैं, वह क्यों नहीं पित्त तथा वात को उत्पन्न करता है। इस विषय में हेतु विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है अर्थात् विचार करना व्यर्थ है क्योंकि वह सब बातें प्रभाव से होती हैं न कि रसादि हेतुओं से, अम्ल और कड़ु रस पित्त वात का जनक होने पर भी आश्रय विशेष में कर्म विशेष करने वाले होते हैं जैसे कि आंवला तथा बड़हर ये दोनों यद्यपि रसादिकों में तुल्य हैं किन्तु फल खाने (गुणों) में तुल्य नहीं हैं। इसी भांति हरड़की त्रिदोषनाशकता के विषय में भी समझना चाहिये ॥ २३-२६ ॥

अथ हरीतक्यां तद्रसादीनां स्थानान्याह

पथ्याया मज्जनि स्वादुः स्नायवाम्बलोऽथ्यवस्थितः। वृन्ते तिक्तस्वचि कटुरस्थिस्थस्तुवरो रसः॥

हरड़ में रसों के रहने के स्थान—हरड़ की मींगी में मधुर रस, रेशों में अम्लरस, वृन्त (डेपी) में तिक्तरस, छिलके में कड़ु रस और गुठली में कषाय रस रहता है ॥ २७ ॥

अथोत्तमहरीतक्या लक्षणान्याह

नवा स्निग्धा घना वृसागुर्वी चिसा च चाऽऽभसि। निमज्जेत्सा प्रशस्ता च कथिताऽतिगुणप्रदा ॥
नवादिगुणयुक्तत्वं तथैवात्र द्विकर्षता। हरीतक्याः फले यत्र द्वयं तच्छ्रेष्ठमुच्यते ॥ २९ ॥

उत्तम हरड़ के लक्षण—जो हरड़ नवीन, स्निग्ध, घन (ठोस), गोल और गुरु (वजनदार) हो तथा जल में डालने पर डूब जाय वह उत्तम और अत्यन्त गुणकारी मानी जाती है। जिस हरीतकी के फल में पूर्वांक नूतनता आदि सम्पूर्ण गुण हों एवं तौल भी उसका दो कर्ष अर्थात् दो बहेड़े के बराबर हो वह उत्तम कही जाती है ॥ २८-२९ ॥

अथ हरीतक्याः प्रयोगभेदेन फलभेदानाह

चर्विता वर्द्धयत्यग्निं पेयिता मलशोधिनी। सिक्ता संग्राहिणी पथ्या मृष्टा प्रोक्ता त्रिदोषनुत् ॥
उन्मीलिनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां निर्मूलिनी पित्तकफानिलानाम्।

विश्वसिनी मूत्रशकृन्मलानां हरीतकी स्यात् सह भोजनेन ॥ ३१ ॥

अन्नपानकृतान्दोषान्वातपित्तकफोद्भवान्। हरीतकी हरस्याशु भुक्तस्योपरि योजिता ॥३२॥
लवणेन कर्षं हन्ति पित्तं हन्ति सशर्करा। घृतेन वातजान् रोगान्सर्वरोगान्मुहान्बिता ॥३३॥

हरीतकी के प्रयोग भेद से गुण भेद—हरीतकी यदि चबा कर खाई जाय तो जठराग्नि की बुद्धि करती है, शिला पर पीस कर खाई जाय तो मल शोधन करती है, उबाल कर खाई जाय तो मल रोकती है, मूत्र कर खाई जाय तो त्रिदोष को दूर करती है और भोजन के साथ सेवन करने से बुद्धि, बल तथा इन्द्रियों को विकसित करने वाली, पित्त, कफ तथा वायु को नष्ट करने वाली, एवं मूत्र, विष्ठा तथा मल पदार्थों का विरेचन करने वाली होती है। यदि वही हरीतकी भोजन कर चुकने के बाद ऊपर से खाई जाय तो अन्न तथा पान सम्बन्धी दोषों को एवं वात पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले विकारों को शीघ्र हरने वाली होती है। संधानमक के साथ खाने से कफ, शकर के साथ खाने से पित्त, घृत के साथ खाने से वात सम्बन्धी रोग और गुड़ के साथ खाने से समस्त व्याधियों को दूर करने वाली होती है ॥ ३०-३३ ॥

अथ रसायनगुणार्थिनां कृते हरीतकीप्रयोगविधिमाह

सिपूथशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात्। वर्षादिष्वभया प्राश्या रसायनगुणषिणा ॥ ३४ ॥

हरीतकी का रासायनिक प्रयोग—जो रसायन के गुणों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं उन्हें चाहिए कि वे वर्षा आदि छ ऋतुओं में क्रम से संधानमक, शकर, सोंठ, पीपल, मधु और गुड़ के साथ हरीतकी का सेवन करें, अर्थात् वर्षा ऋतु में संधानमक के साथ, शरद ऋतु में शकर के साथ, हेमन्त ऋतु में सोंठ के साथ, शिशिर ऋतु में पीपल के साथ, वसन्त ऋतु में मधु के साथ, एवं ग्रीष्म ऋतु में गुड़ के साथ हरीतकी सेवन करने से रसायन के फल की प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

अथ हरीतकी भक्षणानर्हजनानाह

अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रुचः कृशो लङ्घनकर्षितश्च।

पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्वभयां न खादेत् ॥ ३५ ॥

हरीतकी सेवन करने के अयोग्य व्यक्ति—रास्ता चलने से थके हुए, बल रहित, रुक्ष, कृश, उपवास किए, अधिक पित्तवाले व्यक्ति तथा गर्भवती स्त्री एवं जिसे रक्तमोक्षण कराया गया हो उन सबों को हरीतकी का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

१ हरीतकी

हि०—हर, हरड, हरें, हरे, हड़, हळ, हरें, हरर। ब०—हरीतकी, बालहरीतकी, हरीतकी गाछ, नर्रा। म०—हरडा, हिरडा, हरडे, हर्त्तकी, हरडी, बालहरडी। गु०—हरडे, हिमज। ते०—करकचेटु, करकाप्प, करकाय। ता०—कडुकाय, करकैया, कडुकेमरम। क०—अणिलेय, अणिले, अनिलेकाय। उडि०—करथा, हरिडा करेड़ा। द०—हलरा, कलरा। मा०—हरडे। प०—हड, हरड। आसा०—दिलिखा, सिछिका। लिपचा०—सिलिम। सिकम०—इन, सिलिमकंग, सिलिम-कुंग। मैसूर—अलले। कच्छार—होरतकी। फा०—हलेलज अस्फर, हलैले जर्द, हलैलाह, हलेलज जर्द। अ०—अहलीलज, एहलीलज—कावली, अहलीलज अस्फर, जहलीलज, अस्वद, हलेलज अस्फर। अं०—Myrobalans (माईरोबेलन्स), Chebulic Myrobalans (चेब्यूलिक माईरोबेलन्स)। ले०—(१) Terminalia chebula Retz (टर्मिनेलिया चेब्युला)। (२) Terminalia oitrina Roxb (टर्मिनेलिया सिदिना)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रिटसी)।

हरीतकी—अत्यन्त सुगमता से सर्वत्र प्राप्त होने वाली किन्तु विविध गुण सम्पन्न औषधि का फल है। इसका वृक्ष हमारे देश के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है। यह उत्तर भारत में बहुलता से उत्पन्न होती है। कुमाऊँ से बंगाल तक, आसाम, ब्रह्मा तथा दक्षिण में मद्रास प्रान्त, कोयम्बटूर, कनारा, पश्चिमघाट के पूर्वीय प्रान्तों में, गजाम, गोदावरी की तलहटी, सतपुरा पहाड़, गुजरात, बम्बई प्रान्त के घाटों के पास ऊँचे जंगलों में, कोंकण, मलाबार, विन्ध्याचल पहाड़, हिमालय पहाड़ एवं काबुल की ओर इसके वृक्ष अधिकता से देखने में आते हैं। इसका वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

प्रायः इसका वृक्ष मध्यमकार का होता है किन्तु कहीं कहीं बड़े बड़े वृक्ष भी देखने में आते हैं। नर्मदा के दक्षिण के वृक्ष १०० फीट तक ऊँचे होते हैं किन्तु उत्तर भारत में उत्पन्न हुए वृक्ष इतने बड़े नहीं होते। हरीतकी के वृक्ष बट, पीपल, आदि वृक्षों की तरह दीर्घायु नहीं होते हैं, बल्कि कालान्तर में सूख कर गिर जाया करते हैं। इसकी छाल कालापन-युक्त भूरे रंग की चौथाई इंच तक मोटी होती है। लकड़ी-पक्की और बहुत मजबूत होती है। इमारत के काम के लिये

भावप्रकाशनिघण्टुः

अच्छी समझी जाती है। यह किञ्चित् हरापन या पीलापन युक्त भूरे रंग के साथ खाकी रंग की होती है। टहनियों पर पत्ते सघन नहीं रहते, बल्कि न्यूनाधिक विपरीत रहते हैं। पत्ते-अङ्गुल से पत्तों से कुछ चौड़े मडुवे के पत्तों के समान, ४ से ८ इञ्च तक लम्बे, किञ्चित् अंडाकार, नोकदार, सफेदी युक्त हरे और चमकदार होते हैं तथा स्पर्श में खुरदरे जान पड़ते हैं। वृत्त-१ इंच से कम एवं उसके अग्र भाग के ऊपरी पृष्ठ पर दो या अधिक सूक्ष्म ग्रन्थियां पाई जाती हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिर कर नवीन पत्ते निकल आते हैं। फूल-बारीक आम की मंजरी के समान दिखाई देते हैं। और वे देखने में सफेदी मायल या कुछ पीले रंग के होते हैं तथा उनमें दुर्गन्ध आती है। फल-किञ्चित् लम्बाई युक्त गोलाकार होते हैं, सूखते सूखते छिलके सिक्कड़ जाते हैं और पांच कोणाकार या पांच रेखा युक्त दिखाई देने लगते हैं। शकल सूरत, आकार और डील डौल एवं छोटे बड़े, लम्बे, गोल इत्यादि भेदों से फल कई प्रकार के देखने में आते हैं।

पूर्व बंगाल, आसाम और ब्रह्मा में एक अन्य जाति पाई जाती है जिसे लेटिन में *Terminalia citrina* Roxb. (टर्मिनेलिया सिट्रिना) कहते हैं। इसका वृक्ष ८० फीट तक ऊँचा होता है। इसके फल २ इंच तक लम्बे होते हैं।

हरीतकी के फल पूर्ण पकने तक वृक्ष में बहुत कम ठहरते हैं। प्रायः कच्ची अवस्था में ही गिर जाया करते हैं। पका फल उत्तम समझा जाता है। उत्तम फल वह है जो नया हो, और चिकना, गोल, भारी, तौल में कम से कम १॥ तौले से भी अधिक हो तथा पानी में डालने से डूब जाय। अपक अवस्था के छोटे, काले, द्राक्ष के समान फल मिलते हैं। यह बड़े हरे की अपेक्षा बहुत छोटे होते हैं। इन्हें हिन्दी में जंगी हरड़ एवं मराठी में बालहिरडा कहा जाता है। इनका स्वाद अधिक कसैला तथा कड़ुआ होता है।

किसी किसी वाटिका में हरीतकी का वृक्ष नमूने की तरह देखने में आता है। वर्षा ऋतु में हरीतकी के छिलके को सुगमता से दूर कर गुठलियों को भूमि पर फेंक देने से ही कोई कोई बीज अङ्कुरित होकर पौधे के रूप में बढ़ते हैं। पतझड़ में पुराने पत्ते गिर जाने से चैत के महोने में प्रायः इसके पौधे सूखे से दिखाई देते हैं। उस समय से ज्येष्ठ तक पौधों को पानी से कभी कभी सींचना होता है। बरसात का पानी पड़ने पर नवीन पत्ते निकल आते हैं और पौधे हरे भरे हो जाते हैं। उसी समय उनको उठाकर स्थायी रूप से इष्ट जगह पर रोपण करना चाहिये। बरसात का पानी जमा होकर जहाँ पर तर मिट्टी जमा होती है उस जगह पर रोपण किया हुआ पौधा सतेज होता है। साधारण वृक्षों की तरह परिचर्या करने से ही इसके वृक्ष तैयार हो जाते हैं।

आयुर्वेद में हरीतकी की जो सात जातियां कही गई हैं उनके आकार तथा रङ्ग रूप और गुण भी भिन्न भिन्न होते हैं। आयुर्वेद में प्रत्येक जाति की हरड़ के गुणों का वर्णन बहुत ही विचार-पूर्वक किया गया है, परन्तु आजकल के पाश्चात्य विद्वान् लोग केवल दो ही प्रकार की हरीतकी को प्राक्क मानते हैं। शेष जाति की हरीतकियों में यद्यपि प्रकार भेद मानते हैं, परन्तु गुणों में कुछ भेद नहीं मानते। इस संबंध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

रासायनिक संगठन—पक हरीतकी में करीब ३० प्रतिशत कसैला द्रव्य होता है जो चैम्बुलीनिक एसिड के कारण है। इसके अतिरिक्त टैनिन एसिड २०-४० प्रतिशत, गैलिक एसिड, राल आदि द्रव्य हैं। इसका विरेचक द्रव्य एन्थ्राक्विनोन के समान है। बालहरड़ में एक हरे रंग की तैलीय राल मिलती है जिसे कभी कभी माइरोबैलानिन कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—हरीतकी श्रेष्ठ मृदु विरेचक द्रव्य है। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती। शरीर की सभी क्रियाएं इसके सेवन से सुधरती हैं। इसका उपयोग जीर्ण ज्वर, अतिसार,

रक्तातिसार, अर्श, नेत्र रोग, अजीर्ण, प्रमेह, पाण्डु आदि में लाभकर होता है। जीर्ण कास, अर्श आदि में अगस्त्य हरीतकी एवं व्याघ्री हरीतकी आदि योगों के रूप में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

हरीतकी अच्छा व्रण रोपक है। मुखव्रण, पुराने घावों तथा अर्श में इसका लेप लाभप्रद है। दंत मज्जन के लिये इसका महीन चूर्ण उपयोगी है।

बाल हरीतकी—यह मृदु विरेचक है। जीर्ण विबन्ध एवं अर्श में इसका अच्छा उपयोग होता है।

मात्रा—चूर्ण २ से ४ माशा।

अथ विभीतकस्य नामानि गुणांश्चाह

विभीतकस्त्रिलिङ्गः स्यादन्तः^१ कर्षफलस्तु सः। कलिद्रुमो भूतवासस्तथा कलियुगालयः।
विभीतकं स्वादुपाकं कषायं कफपित्तनुत्। उष्णवीर्यं हिमस्पर्श भेदनं कासनाशनम् ॥३६॥
रूचं नेत्रहितं केश्यं कृमिवैस्वर्यनाशनम्। विभीतमज्जात्तृद्धदिकफवातहरी लघुः ॥

कषायो मदकृच्छ्राय धात्रीमज्जाऽपि तद्गुणः ॥ ३७ ॥

बहेड़े के नाम तथा गुण—विभीतक, (यह शब्द तीनों लिङ्गों में होता है), अक्ष, कर्षफल, कलिद्रुम, भूतवास और कलियुगालय ये सब संस्कृत नाम बहेड़े के हैं। बहेड़ा—मधुर विपाकवाला, कषाय रसयुक्त, कफ व पित्त का नाशक, उष्णवीर्यवाला, शीतस्पर्श वाला, मल का भेदन करने वाला, कास का नाशक, रूक्ष, नेत्र तथा बालों के लिये हितकर, कृमि तथा स्वरभेद को दूर करने वाला होता है। बहेड़े की मींगी—प्यास, वमन और कफ एवं वायु का नाश करने वाली, लघुपाकी, कषाय रस युक्त और मदकारक होती है। इसी भांति आंवले की मींगी के भी ये ही सब गुण हैं ॥ ३५-३७ ॥

२ बहेड़ा

हि०—बहेड़ा, फिनास, भैरा, बहेरा। व०—बयड़ा, बोहेरा, बेहरी, बेहेड़ा। म०—बेहड़ा, बेहाड़ा, धाटींग, बहेला, बहड़ा। गु०—बेहेड़ा, वेड़ा। क०—तोड़े, तोरै, तारिकायि। ते०—तडिचेटडु, बला, ताड़ि, तनिकाय, तनि, तन्द्रा, तोन्दी। ता०—अक्कम, तन्नी, तनितांडी, तोअण्डी, तोखांडी, तंरिक्कय, तनी, कट्टुएलपय। मा०—बहेड़ा। प०—बहेड़ा। मु०—बहेड़ा। फा०—बलेले, बलेला, बलैलाह। अ०—बलेलज। अं०—Beleric Myrobalans; (बेलेरिक मैरोबेलन्स)। Beddanut (बेड्डानुट)। ले०—Terminalia belerica Roxb. (टर्मिनेलिया बेलेरिका)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रिटैसी)।

हमारे देश के प्रायः सब प्रान्तों में बहेड़े का वृक्ष देखने में आता है, विशेष कर नीची पहाड़ियों पर अधिक पाया जाता है। यह जंगल, पहाड़ तथा ऊँची भूमि में उत्पन्न होता है।

वृक्ष—बहुत विशाल हुआ करता है। ऊँचाई ६० से १०० फीट तक होती है। स्तम्भ-मोटा, सीधा, खड़ा, गोलाकार होता है। छाल-आधाइञ्च तक मोटी, कालापन युक्त या नीलापन युक्त खाकी रंगकी होती है। लकड़ी-हलकी खाकी या किञ्चित् पीलापन युक्त होती है। शाखायें-प्रायः ६ से १० फीट लम्बी होती हैं किन्तु कभी कभी २० फीट लम्बी शाखायें भी देखने में आती हैं। पत्ते—मडुवे के पत्तों के समान ३ से ८ इञ्च तक लम्बे तथा २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। ये विषमवर्ती प्रायः छोटी छोटी टहनियों के अन्त में सघन रहते हैं। प्रायः पतझड़ में इसके सब पत्ते गिर जाते हैं और चैत तक नवीन पत्ते निकल आते हैं। फूल—३ से ६ इञ्च तक लम्बी सीकों पर नन्हें फूलों की

१. 'स्यान्नाक्षः' इति पाठा०।

मञ्जरियां आती है। ये मैले खाकी या फीके हरे रंग के होते हैं। फल—एक इञ्च लम्बा, गोल और अण्डाकार होता है।

पतझड़ में जब इसके पुराने पत्ते गिर जाते हैं और नवीन पत्ते आते रहते हैं, प्रायः उसी समय फूल भी आते हैं। शीतकाल के प्रारम्भ में उस पर फल लग जाते हैं और अगहन-पूस तक पक जाते हैं। वृक्ष से बबूल के गोंद के समान एक प्रकार का गोंद निकलता है। फलों की मींगी से तेल निकाला जाता है।

किसी किसी वाटिकामें बहेड़ेका वृक्ष देखने में आता है। वर्षा के प्रारम्भ में छिलके रहित गुठलियों की भूमि पर फेंक देने से ही वे अद्भुत हो पौधे के रूप में परिणत होती हैं। इसकी परिचर्या हरीतकी के पौधों के समान करनी चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसके फल में १७% टैनिन द्रव्य रहता है तथा इसकी मींगी में २५% तक हलके पीले रंग का तैल रहता है। इसके अतिरिक्त राल, सैपोनिन आदि द्रव्य रहते हैं।

गुण और प्रयोग—बहेड़े का विशेष उपयोग त्रिफले के रूप में होता है। इसका अर्थ पक फल विरेचक और पूरा पका हुआ या सूखा फल संकोचक माना जाता है। इसका उपयोग खांसी, गले के रोग, स्वरभंग, ज्वर, उदर, प्लीहावृद्धि, अर्श, अतिसार, कुष्ठ आदि रोगों में होता है। यह मस्तिष्क के लिये बल्य है। नेत्र पर इसका लेप लाभकारी है।

इसकी मज्जा वेदनास्थापक, शोथघ्न और कुष्ठ मक्कारी है। मज्जा का तेल बालों के लिये अत्यन्त पौष्टिक, रंजक एवं कण्डूघ्न और दाहशामक है। मज्जा अथवा छिलके को भून कर मुख में रखने से खांसी में बहुत लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ३-९ माशा।

अथामलक्या नामानि गुणांश्चाह

वयस्यामलकी वृष्या जातीफलरसं शिवम् । धात्रीफलं श्रीफलं च तथाऽमृतफलं स्मृतम् ॥

त्रिष्यामलकमाख्यातं धात्री त्रिष्यफलाऽमृता ॥ ३८ ॥

हरीतकीसमं धात्रीफलं किन्तु विशेषतः । रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम् ॥ ३९ ॥

हन्ति वातं तद्गुणस्वारिपसं माधुर्यशैत्यतः । कफं रुक्कषायस्वाफलं धान्यास्त्रिदोषजित् ॥ ४० ॥

यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादृशम् । तस्य तस्यैव वीर्येण भजानमपि निर्दिशेत् ॥ ४१ ॥

आंवले के नाम तथा गुण—वयस्या, आमलकी, वृष्या, जातीफलरसा, शिव, धात्रीफल, श्रीफल और अमृत फल ये सब आंवले के नाम हैं। आमलक (यह शब्द तीनों लिङ्गों में होता है), धात्री, त्रिष्यफला, अमृता ये भी आंवले के संस्कृत नाम हैं। हरड़ के जो २ गुण हैं, वे ही आंवले के भी हैं। किन्तु विशेष यह है कि—यह रक्तपित्त तथा प्रमेह का नाशक है और अत्यन्त वृष्य (वीर्य के लिये हितकर) एवं रसायन है। **आमला**—अम्ल रस युक्त होने से वायु को तथा मधुर रस युक्त और शीतल होने से पित्त को दूर करता है और रुक्क तथा कषाय रस युक्त होने से कफ को दूर करता है। अतएव यह त्रिदोशनाशक है। यहां सर्वत्र यह समझना चाहिये कि जिन २ फलों का गुण जैसा उष्ण या शीतवीर्य हो उन २ फलों की मींगी का भी गुण वैसा ही उष्ण या शीतवीर्य होता है ३८-४१ ॥

३ आमला

हि०—आमला, आंबला, आंबडा, आंबरा, ओड़ा, औरा। **ब०**—आमला, आमरो, अमला, आमलकी।

म०—आंवले, आवली, आवलकाठी। **प०**—आमला, अम्बुल, अम्बली। **मा०**—आंबला। **गु०**—आंबला,

आमलां, आमली। **क०**—नेह्लि, नेह्लिकायि। **ते०**—उसरिकाय, उसरिक। **उ०**—अण्डा। **आसा०**—अमला, आमलकी। **गारो०**—अम्बरी। **ता०**—नेह्लिमरं, नेह्लिकाय। **ब्रह्मा०**—शब्जु, जिफियुसी। **फा०**—आमलज, आमलज आमलय, आमलह, आमलाह, आम्बल। **अ०**—आमलज। **अं०**—Emblie Myrobalan (एम्ब्लिक् मैरोबेलन्); **Indian gooseberry** (इन्डियन गुस्बेरी)। **ले०**—Phyllanthus emblica Linn. (फाइलेन्थस एम्ब्लिका); **Emblie officinalis Gaertn.** (एम्ब्लिका ऑफिसेनेलिस्)। **Fam.** Euphorbiaceae (यूफोर्बियेसी)।

आमला भारतवर्षके प्रायः सब उष्ण प्रदेशों में बागी और जंगली दोनों प्रकार का पाया जाता है। विशेष कर उत्तर भारत, अवध, बिहार और पूर्वी देशों में इसकी उपज अधिक है। हिमालय पहाड़ के नीचे जम्बू से पूर्व की ओर तथा दक्षिण की ओर सिलोन तक उत्पन्न होता है। तथा चीन एवं मलयदीप में भी मिलता है।

इसका वृक्ष—मध्यमाकार का सुहावना होता है, किन्तु जंगली वृक्ष ऊँचे कद का बड़ा होता है। छाल-चोथाई इञ्च मोटी हलके खाकी रङ्गकी एवं छिलकेदार होती है। लकड़ी-लाल रङ्गकी और मज-बूत होती है। इसमें सार भाग नहीं होता है। पत्ते-छोटे २ इमली के पत्तों के समान और फूल-छाई के दानों के समान हरापन युक्त पीले रङ्ग के गुच्छों में शाखाओं से सटे रहते हैं। वसन्त ऋतु में जब इसके पुराने पत्ते झड़ जाते हैं तब वृक्ष पत्रशून्य दिखाई पड़ता है। उसी समय यह फूलता है और नवीन पत्ते निकलते हैं। फूलों में नीबू के फूल के समान मन्द सुगन्ध आती है। फल-डालियों में सटे हुये दिखाई देते हैं। वे गोल चमकदार और छ रेखाओं से युक्त होते हैं। कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर हरापन युक्त किञ्चित् पीले या सुर्ख और सूखने पर काले रङ्ग के होकर फांके पृथक् २ हो जाती हैं और साथ ही गुठली भी फट जाती है। उनसे त्रिकोणाकार छोटे २ बीज निकलते हैं। बीजों से तेल निकलता है।

बीज से ही इसके पौधे उत्पन्न होते हैं और थोड़े ही वय से साधारण वृक्षों की भांति प्रायः दुग्ध मिश्री में इसके वृक्ष सतेज होते हैं। प्रायः वाटिकाओं में कलमी आमले के वृक्ष रोपित किये जाते हैं। जङ्गली के फल एक तोले तक और बागी कलमी आंवले के पांच तोले से अधिक भी देखने में आते हैं। बनारसी आंवले सर्वोत्तम समझे जाते हैं। किन्तु जितने आंवलों की यहां खपत होती है उतने उत्पन्न नहीं होते। खटिक लोग दूसरी जगह से मंगाकर बेचते हैं। पके फल बहुत कम मिलते हैं। प्रायः कच्ची अवस्था में ही तोड़कर बेच लेते हैं।

रासायनिक संगठन—रासायनिक दृष्टि से इसके टैनिन में गैलिक एसिड, एलाइगिक एसिड और ग्लूकोज होता है। इसमें विटामिन 'सी' तथा पेक्टिन बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। 'विटामिन सी' की मात्रा १०० ग्रा० में ६००-९२१ मि० ग्रा० तक पाई जाती है। आंबला के सूखे चूर्ण में भी 'विटामिन सी' पर्याप्त मात्रा में होती है क्योंकि इसके अन्दर का टैनिन 'सी' को नष्ट नहीं होने देता।

गुण और प्रयोग—आंबला एक अत्यन्त महत्त्व की औषधि है। इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। इसका ताजा फल रसायन, वृष्य, रक्तपित्त को दूर करने वाला, शीतल, मृदु विरेचक, मूत्रल एवं यकृत की क्रिया ठीक करने वाला है। इसका सूखा फल ग्राही, शीतल, दीपन, एवं रक्तस्रावरोधक है।

रसायन के लिये एक विशिष्ट प्रकार की विधि से सेवन करने का विधान चरक में किया गया है। ताजे सूखे आंबले के चूर्ण को लेकर उसको ताजे आंबले के रस की भावना देकर सुखाना चाहिए। यह जितनी अधिक बार दी जायेगी उतना ही गुणकारक होगा। कम से कम २१ भावना

देकर सुखाकर रखना चाहिये। इस चूर्ण की ३ से ६ माशा की मात्रा गोघृत तथा मधु (असमान मात्रा) के साथ दिन में दो बार लेनी चाहिये। इसी प्रकार च्यवनप्राश का भी उपयोग किया जा सकता है। इसके सेवन से शरीर की सभी क्रियाएँ सुधरकर शरीर पुष्ट एवं बलवान् बनता है। स्मृति, मेधा, क्रांति बढ़ती है। श्वास, कास, क्षय, पांडु, अग्निमान्द्य, वीर्य दोष, आदि दूर होते हैं। आंवला एवं हल्दी का क्वाथ बस्तिशोथ एवं पित्त प्रकोपजन्य व्याधि में उपयोगी है। आंवले का रस मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, पित्तजशूल, कामला, हिक्का, वमन, जीर्ण विबन्ध में मिश्री मिलाकर शर्वत के रूप में बहुत लाभदायक है। प्रशीताद (Scurvy) रोग में भी यह बहुत उपयोगी है। आंवले का चूर्ण अर्श, अतिसार, संग्रहणी, अत्यातंत्र एवं प्रतिश्याय में उपयोगी है।

पेड़ पर ही लगे हुये आंवलों को चीरने से जो रस निकलता है उससे आंख धोने से अक्षिशोथ दूर होता है। उसी प्रकार इसके बीजों की मींगी के क्वाथ से आंख धोने से आंखों का दर्द दूर होता है। अक्षिप्रक्षालन के लिये रातभर जल में भिगोये आंवले के चूर्ण का पानी भी उपयोगी है। लोह भस्म के साथ आंवले का उपयोग पाण्डु, कामला में विशेष लाभकर होता है।

आंवले के पत्तों का क्वाथ मुख ऋण में लाभदायी है। इसके कोमल पत्तों को छाछ के साथ देने से अजीर्ण और अतिसार में लाभ होता है।

आंवले का बस्तिप्रदेश पर लेप मूत्रावरोध में, एवं गर्भाशय मुख पर रक्त प्रदर में उपयोगी है। आंवले का विशेष उपयोग च्यवनप्राश, आमलकीरसायन, त्रिफला एवं धात्री लोह में किया गया है।

मात्रा—चूर्ण ३ माशे से १ तोला तक।

अथ त्रिफलाया लक्षणनामगुणानाह

पथ्याविभीतधात्रीणां फलेः स्यात्त्रिफला समैः । फलत्रिकञ्च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता ॥
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठहरा सरा । चक्षुष्या दीपनी रुच्या विषमज्वरनाशिनी ॥ ४३ ॥

त्रिफला के लक्षण, नाम तथा गुण—हरड़, बहेड़ा और आंवला इन तीनों के फल यदि समान भाग से एकत्र किये जाय तो यही त्रिफला कहलाता है। इसके फलत्रिक और वरा ये भी नामान्तर हैं। त्रिफला—कफ तथा पित्त को नाश करनेवाली एवं प्रमेह व कुष्ठ को दूर करनेवाली, दस्तावर, नेत्रों के लिये हितकर, अग्निदीपक, रुचिकारक एवं विषम ज्वर को नाश करने वाली होती है ॥

त्रिफला

आजकल विद्वान् यद्यपि हरड़, बहेड़ा और आंवला—इन तीनों को एक साथ मिलाकर त्रिफला मानते हैं तो भी इनके सम भाग होने में मत भेद है। कोई एक भाग हरड़, दो भाग बहेड़ा और तीन भाग आंवला एवं कोई एक भाग हरड़, दो भाग बहेड़ा और चार भाग आंवला को त्रिफला कहते हैं। एक हरड़, दो बहेड़े और चार आंवले को भी बहुत लोग त्रिफला मानते हैं। उसी प्रकार एक हरड़ से एक भाग हरड़, दो बहेड़ा से दो भाग बहेड़ा और चार आंवले से चार भाग आंवले समझते हैं किन्तु यदि एक हरड़, दो बहेड़े और चार आंवले (बनारसी बड़े आंवले से भिन्न) लिये जाय तो ये प्रायः समभाग ही होते हैं।

अथ शुण्ठ्यानामानि गुणांश्चाह

शुण्ठी विश्वा च विश्वञ्च नागरं विश्वभेषजम् । ऊषणं कटुभद्रञ्च शृङ्गवेरं महौषधम् ॥ ४४ ॥
शुण्ठी रुच्यामवातघ्नी पाचनी कटुका लघुः । स्निग्धोष्णा मधुरा पाके कफवातविबन्धनुत् ॥

वृष्या स्वयर्थावमिश्रासशूलकासहृदामयान् । हन्ति श्लेष्मदशोथार्श आनाहोदरमाहृतान् ॥
आग्नेयगुणभूयिष्ठात् तोयांशपरिशोषि यत् । संगृह्णाति मलं तत्तु ग्राहि शुण्ठ्यादयो यथा ॥
विबन्धभेदिनी या तु सा कथं ग्राहिणी भवेत् । शक्तिविबन्धभेदे स्याद्यतो न मलपातनो ॥

सोंठ के नाम तथा गुण—शुण्ठी, विश्वा, विश्व, नागर, विश्वभेषज, ऊषण, कटुभद्र, शृङ्गवेर और महौषध ये सब संस्कृत नाम सोंठ के हैं। सोंठ—रुचिकारक, आमवातनाशक, पाचक, कटुरस युक्त, लघुपाकी, स्निग्ध, उष्णवीर्य, विपाक में मधुर रस युक्त, कफ, वात और विबन्ध (विबद्धता) को दूर करने वाली, वृष्य, स्वर के लिये हितकारी, वमन, श्वास, शूल, कास, हृद्रोग, श्लेष्मद, शोथ, बवासीर, आनाह और उदर की वायु इन सबों को दूर करती है और जो द्रव्य अधिकतर अग्नि सन्वन्धी गुणों से युक्त होने से जलीय अंश को सूखाने वाला तथा मल का संग्राहक अर्थात् पतले मल के जलीय भाग को सुखाकर गाढ़ा करने वाला होता है वह 'ग्राही' कहलाता है, जैसे कि—सोंठ आदि। अब यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि—जो सोंठ विबन्ध (बंधे हुये मल) का भेदन करने वाली होती है वह कैसे ग्राही होगी? क्योंकि अभी अपने ग्राही द्रव्य का 'मल को गाढ़ा करना' लक्षण बतलाया है। इसका उत्तर यह है कि—इस द्रव्य का यह प्रभाव है कि—यह विबन्ध (मलबद्धता) के दूर करने में तो समर्थ होती है, किन्तु मल के गिराने में नहीं होती है क्योंकि आश्रय भेद से द्रव्यों के कर्मों में भी प्रभाववश भिन्नता हो ही जाती है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥ ४४-४८ ॥

४ सोंठ

हि०—सोंठ, सौंठ, सूंठ, सिंवी । ब०—शुंठ, शुण्ठि, सुंठ । मा०—सुंठ । सिंहली०—
वेलिच शृङ्ग । गु०—शुंठ्य, सुंठ, सूंठ । क०—शुंठि, शौंठि, ओणसुठि, वेनशुठी । ते०—शौंठी,
शौंठी, सोंठि । ता०—शुष्णु । प०—सुंठ । मला०—चुक्क । ब्रह्मी०—गिन्तीखियाव । फा०—
जअबील, जजबीलकुशका । अ०—जअबीले आविस । अं०—Dry Zingiber (ड्राइजिबेरे)
Ginger (जिजर) । ले०—Zingiber officinale Roscoe (जिजिबेरे ऑफिसिनेल) । Fam.
Zingiberaceae (जिजिबेरेसी) ।

सुखार्थ आदी को सोंठ कहते हैं। सुखाने की विधि के अनुसार इसके स्वरूप में अंतर पाया जाता है। आदी को खूब स्वच्छ कर पानी या दूध में उबाल कर सुखते हैं। प्रायः सोंठ दो प्रकार की होती है एक रक्ताभ भूरी और दूसरी सफेद। चूने के साथ शोधन करने से यह सफेद तथा टिकाऊ हो जाती है। जिनमें रेशे बहुत कम होते हैं, वह अच्छी समझी जाती है।

रासायनिक संगठन—सोंठ में १-३% उडन शील तैल रहता है। जिजेरोल तथा शोगोल नामक इसमें कटु द्रव्य हैं। इसके अतिरिक्त इसमें रेंजिन तथा स्टार्च रहता है। अच्छी सोंठ में राख ६% से अधिक नहीं रहती जिसमें से जल में घुलनशील राख की मात्रा १.७% से कम न होनी चाहिये। इसमें मद्यसार में घुलनशील सत्व ४.५% से कम तथा जल में घुलनशील सत्व १०% से कम न होना चाहिये।

गुण और प्रयोग—सोंठ यह अनेक रोगों में अन्य औषधियों के साथ उपयोग में आती है। सोंठ, मिर्च और पीपल तीनों मिल कर त्रिकटु कहलाती है जिसका बहुत व्यवहार होता है। सोंठ यह एक उत्तम पाचक, कफघ्न, वातहर एवं उत्तेजक सुगन्धित द्रव्य है। इससे उदरगत वायु

के कारण होने वाले उदरशूल, हृत्कूल में लाभ होता है। इसके सेवन से पाचन क्रिया ठीक होकर उदर में वायु का सञ्चय नहीं होता। जीर्ण सन्धिवत् में विशेषतः बूढ़ों में इसके फांट का नित्य रात में प्रयोग लाभकारी होता है। यह उष्ण एवं वातहर होने से किसी भी प्रकार की पीड़ा में लाभकारी है। गरम जल में सोंठ के चूर्ण का लेप शिरःशूल, वातनाड़ीशूल, एवं दन्तशूल में उपयोगी है। पसीना अधिक होकर हाथ और पैरों में शीत आने पर इसके चूर्ण को रगड़ने से रक्तभिसरण की क्रिया ठीक होकर शीत दूर होता है।

यह कफघ्न होने के कारण इसका प्रयोग श्वास, कास, प्रतिश्याय, गले के रोग, स्वरभङ्ग इत्यादि में किया जाता है। इसके लिये इसका फांट बना कर लेना चाहिये। आमदोष दूर करने के लिये सोंठ के चूर्ण को घी के साथ रेंड के पत्तों में लपेट कर अग्नि में पुटपाक करना चाहिये और फिर इस चूर्ण को मिश्री के साथ सुबह लेना चाहिये। इससे आमातिसारजन्य शूल दूर होता है।

गुड़ के साथ सोंठ का उपयोग अर्श, अजीर्ण, अतिसार, गुल्म, शोथ, प्रमेह, कामला आदि में किया जाता है। बल्य औषधियों के साथ सोंठ का उपयोग क्षतक्षीण एवं दुर्बल रोगियों के लिये उपयोगी है। विरेचक औषधियों के साथ सोंठ लेने से हृत्कास, पेट में मरोड़ या पेंठन नहीं होती।

मात्रा—चूर्ण २ से ८ रत्ती।

अथार्द्रकस्य नामानि गुणांश्चाह

आर्द्रकं शृङ्गवेरं स्यात्कटुभद्रं तथाऽऽर्द्रिका। आर्द्रिका भेदिनी गुर्वी तीक्ष्णोष्णा दीपनी मता ॥

कटुका मधुरा पाके रूक्षा वातकफापहा।

ये गुणाः कथिताः शुण्ठ्यास्तेऽपि सन्त्यार्द्रकेऽस्त्रिलाः ॥ ५० ॥

भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणाद्रकं भक्षणम्। अग्नि सन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥ ५१ ॥

कुष्ठपाण्ड्वामये कृच्छ्रे रक्तपित्ते व्रणे ज्वरे। दाहे निदाघशरदोर्नैव पूजितमाद्रकम् ॥ ५२ ॥

अदरक के नाम तथा गुण—आर्द्रक, शृङ्गवेर, कटुभद्र और आर्द्रिका ये संस्कृत नाम अदरक के हैं। अदरक—मूल को भेदन करने वाली, पाक में गुरु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, कटु-रसयुक्त, विपाक में मधुर रसयुक्त, रूक्ष, वात तथा कफ को नष्ट करने वाली होती है और जितने गुण पूर्व में सोंठ के कह आये हैं, सभी गुण अदरक में भी रहते हैं और भोजन करने के प्रथम सर्वदा सेंधा नमक के साथ अदरक खाना हितकारी होता है। क्योंकि यह अग्नि को दीप्त करने वाला, रुचिकारक, जिह्वा तथा कण्ठ का शोधन करने वाला होता है। कुष्ठ, पाण्डुरोग, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, व्रण, ज्वर, दाह इन रोगों में एवं ग्रीष्म तथा शरद ऋतुओं में अदरक खाना हितकर नहीं है ॥ ४९-५२ र

५ अदरक

हि०—अदरक, आदी। ब०—आदा। प०—अदरक, अद, अद्रक, आदा। म०—आले। ते०—अल, अलमू। ब्रह्मी०—ख्येन, सेङ्ग, गिनसिन। गु०—आडु। क०—अल, असिशोठि, हसीसुण्ठी। मा०—आदो। ता०—शुक, शञ्जि। मल०—इन्दी। सिंहली०—अमुहजुर। फा०—अजीवीले तर। अ०—जंजबीले रतव। अं०—Ginger root (जिजर रूट)। ले०—Zingiber officinale (जिजिबेर ऑफिसिनेल)।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में अदरक की खेती की जाती है।

अदरक का पौधा प्रायः एक हाथ ऊँचा होता है। इसके पत्ते बांस के पत्तों के समान पर उनसे कुछ छोटे होते हैं। इसकी जड़ में जो कन्द होता है, उसीको अदरक कहते हैं। इसका फूल, फल-

बहुत कम देखने में आता है। किसी २ पुराने पौधे पर फूल आते हैं। फूलों का रङ्ग जायुनी रङ्ग का होता है।

अदरक रेतीली भूमि में गोबर की खाद डाली हुई दुमट मिट्टी में अधिक उत्पन्न होती है। इसके लिये पर्याप्त वर्षा की आवश्यकता रहती है।

गुण और प्रयोग—आर्द्रक के रस का उपयोग शहद के साथ विशेष कर श्वास, कास आदि कफ रोगों में अनुपान के लिये किया जाता है। भोजन के पूर्व सेंधानमक और आदी के सेवन से भूख बढ़ती है, जिह्वा एवं कण्ठ की शुद्धि होकर अन्न में रुचि भी बढ़ती है। आर्द्रक रस और प्याज का रस १, १ तोला लेने से उल्टी और जी मिचलाना दूर होता है।

मलाशय में जलोदर रोग में इसका रस, तीव्र मूत्रनिःसारक रूप में दिया जाता है। इसकी मात्रा धीरे २ बढ़ाई जाती है जिससे मूत्र की मात्रा भी बढ़ती जाती है। लेकिन पुराने हृदय रोग एवम् शृङ्खलिकार (ब्राइट्स डिस्ज) में यह हानिकर है। गुड़ के साथ इसका रस शीतपित्त में उपयोगी है। आदी का रस गुनगुना गरम करके कान में डालने से कर्णशूल दूर होता है।

मात्रा—स्वरस ३-२ चम्मच।

अथ पिप्पल्या नामानि गुणांश्चाह

पिप्पली मागधी कृष्णा वैदेही चपला कणा। उपकुल्योष्णा शौण्डी कोला स्यात्तीक्ष्णतण्डुला। पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी। अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघुः ॥ पिप्पली रेचनी हन्ति श्वासकासोदरज्वरान्। कुष्ठप्रमेहगुस्मार्शः प्लीहशूलाममारुतान् ॥ ५५ ॥ आर्द्रा कफप्रदा स्निग्धा शीतला मधुरा गुरुः। पित्तप्रशमनी सा तु शुष्का पित्तप्रकोपिणी ॥ ५६ ॥ पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी। श्वासकासज्वरहरी वृष्या मेघ्याऽग्निवर्द्धिनी ॥ ५७ ॥ जीर्णज्वरेऽग्निमान्द्ये च शस्यते गुडपिप्पली। कासाजीर्णरुचिरश्वासहृत्पाण्डुक्रमिरोगानुत्ता ॥ ५८ ॥

द्विगुणः पिप्पलीचूर्णाद् गुडोऽन्न भिषजां मतः ॥ ५८ ॥

पीपर के नाम तथा गुण—पिप्पली, मागधी, कृष्णा, वैदेही, चपला, कणा, उपकुल्या, ऊषणा, शौण्डी, कोला और तीक्ष्णतण्डुला ये सब संस्कृत नाम पीपर के हैं। पीपर—अग्निदीपक, वृष्य, पाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, अनुष्ण (थोड़ी उष्ण), कटु-रसयुक्त, स्निग्ध, वात तथा कफ नाशक, लघु-पाकी और रेचक (दस्तावर) है। यह—श्वास, कास, उदररोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, नवासीर, प्लीहा, शूल और आमवातनाशक है। कच्ची पीपर—कफकारी, स्निग्ध, शीतल, मधुर, गुरु और पित्त को शान्त करने वाली है। किन्तु सूखी पीपर—पित्त को कुपित करने वाली है। मधु (शहद) से युक्त पीपर—मेद, कफ, श्वास, कास और ज्वर का नाश करने वाली होती है एवं वृष्य, मेधा (धारणाशक्ति) के लिये हितकारी और अग्निवर्द्धक भी है। गुड़ से युक्त पीपर—जीर्णज्वर और अग्निमान्द्य में हितकर होती है—एवं—कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृद्रोग, पाण्डुरोग तथा क्रमिरोग को दूर करने वाली भी होती है। यहाँ पर अर्थात् पीपर के साथ गुड़ मिलाने में पीपर के चूर्ण के तोल से दूना गुड़ मिलाना चाहिए ऐसा वैद्यों का मत है ॥ ५३-५८ ॥

६ पीपल

हि०—पीपर, पीपल। ब०—पीपुल, पिपुल। म०—पिपली। गु०—पीपर, लीड़ी पीपल, लिंडी पीपल। क०—हिप्पली। ते०—पिप्पल, पिप्पलि, पिप्पल चेट्टु। ता०—तिपिपली। तु०—हप्पली। मला०—तिपिपली। ब्राह्मी०—पौखीन। गोम०—हिपली। मा०—पीपल। फा०—पिलपिल दराज,

फिल्फिल दराज, पीपल दराज । अ०—दारफिलफिल्, डाल फिल्फिल् । अ०—Long pepper (लॉग पीपर); Dried catkins (ड्राइड कॅटकिन्स) । ले०—Piper longum Linn. (पाइपर लॉगम) । Chavica roxburghii (चविका रॉक्सबर्ग) । Fam. Piperaceae (पाइपरेसी) ।

पीपल—इस देश से गरम प्रान्तों में पूर्व नेपाल से आसाम, खासिया के पहाड़ों पर, बंगाल में, पश्चिम की ओर बम्बई तक तथा दक्षिण की ओर द्रावनकोर तक पायी जाती है । सीलोन, मलाका तथा फिलीपाइन द्वीपों में भी यह पाई जाती है ।

पीपल लता जाति की वनौषधि का फल है । इसकी बेल—अन्य लताओं की भाँति अधिक विस्तार में नहीं बढ़ती किन्तु थोड़ी ही दूरी में फैलती है । जड़—कुछ मोटी और खड़ी सी होती है । उससे शाखाएँ निकल कर भूमि पर फैलती हैं । पत्ते—२॥-३॥ इत्र के घेरे में, गोलाकार, पान के पत्तों के आकार वाले कोमल होते हैं । ऊपर के पत्ते विनाल होते हैं । फलगुच्छ—१-२॥ इत्र लम्बे और कृष्णाम होते हैं जिनमें अत्यन्त छोटे-छोटे फल लगे रहते हैं ।

एक दूसरी जाति को पीपल को पहाड़ी पीपल कहते हैं । इसका लेटिन नाम Piper sylvaticum Roxb. (पीपर सिलवेटिकम्) है । यह आसाम और बंगाल में अधिक उत्पन्न होती है । इसकी लता कई फीट तक बढ़ जाती है और सूखने पर आपस में लिपटी हुई मालूम होती है । पत्ते—पान के आकार वाले, उक्त पीपल के पत्तों से किञ्चित् बड़े होते हैं । फलगुच्छ—पौन से १॥ इत्र लम्बे गोल होते हैं । इसको बङ्गाल के कविराज अधिक व्यवहार में लाते हैं ।

पीपल छोटी और बड़ी—इन भेदों से दो प्रकार की होती है । इनमें छोटी अधिक गुणकारी समझी जाती है ।

रासायनिक संगठन—इसमें १% उड़न शील तैल रहता है जिसमें से करीब ५-६.४% पाइपरीन, पाइपरीडीन एवं एक कड़ राल (चविसीन), स्टार्च और स्नेह आदि द्रव्य रहते हैं ।

गुण और प्रयोग—पीपल रसायन, सुगन्धि, दीपक, पाचक, उष्ण, वातहर और कफघ्न है । इसका उपयोग आनाह, अपचन, अग्निमान्य, उदरशूल, कास, श्वास, जीर्णज्वर, प्रसूतिज्वर, आमवात, गृध्रसी, कटिशूल, वातरक्त, अङ्गघात आदि रोगों में किया जाता है ।

(१) मधु के साथ इसका चूर्ण नये वा पुराने कास, श्वास, स्वरभङ्ग तथा हिचकी में उपयोगी है ।

(२) प्रसूतिज्वर में गर्भाशय शुद्धि के लिए इसका मधु के साथ अच्छा उपयोग होता है ।

(३) वर्षमान पिप्पली का उपयोग रसायन के लिए एवं अधोशाखाघात, पुरानी खांसी, दमा, यक्ष्मा, प्लोहावृद्धि, उदर, अर्श आदि रोगों में बहुत लाभदायी है । इसके लिए प्रथम दिन ३ पीपल का फांट मधु अथवा शर्करा के साथ दिया जाता है फिर नित्य ३ पीपल बढ़ाई जाती है । इस प्रकार दसवें दिन ३० पीपल का फांट दिया जाता है । फिर इसी प्रकार ३ पीपल नित्य कम की जाती है । कुछ लोग आधा दूध और आधा जल में उबालकर दूध शेष रहने पर उसी पीपल को खिलाकर ऊपर से वही दूध पिलाते हैं । इसके अतिरिक्त इसके चूर्ण को घृत और मधु के साथ उपयोग किया जा सकता है ।

(४) पीपल चौसठ प्रहर श्रोत कर उपयोग करने से जीर्ण ज्वर में विशेष लाभदायी होती है ।

(५) सौंठ एवं पीपल से सिद्ध तैल की मालिश गृध्रसी, कटिशूल तथा अधोशाखाघात में उपयोगी है ।

(६) त्रिकटु और सहिजन के बीज को अगस्तमूल के रस से घोटकर उसका नस्य देने से बेहोशी, मूर्च्छा आदि दूर होती है ।

मात्रा—चूर्ण २-४ र० । दर्पनाशक—जरेशक, बबूल का गोंद और इसबगोल ।

अथ मरीचस्य नामानि गुणौश्चाह

मरिचं वेङ्गजं कृष्णमूषणं धर्मपत्तनम् ॥ ५९ ॥

मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित् । उष्णं पित्तकरं रुचं श्वासशूलकृमीन्हेत् ॥ ६० ॥
सदाद्रं मधुरं पाके नात्युष्णं कटुकं गुरु । किञ्चितीक्ष्णगुणं श्लेष्मप्रसेकि स्यादपित्तलम् ॥ ६१ ॥

मरिच के नाम तथा गुण—मरिच, बेलज, कृष्ण, उष्ण और धर्मपत्तन ये मरिच के संस्कृत नाम हैं । मरिच—कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कफ तथा वायु को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, पित्तकारक और रुक्ष है एवं श्वास, शूल तथा कृमिरोग को नष्ट करने वाला होता है । यदि यही गीला (कच्चा) हो तो—पाक में मधुर रस युक्त, थोड़ा उष्णवीर्य, कटुरस युक्त, पाक में गुरु, थोड़ा तीक्ष्ण गुण से युक्त, कफ को गिराने वाला और थोड़ा पित्तकारक होता है ॥ ५९-६१ ॥

७ मरिच

हि०—मरिच, मिरच, गोल मरिच, काली मरिच, दक्षिणी मरिच, गोल मिरच, चोखा मिरच । ब०—मरिच, गोल मरिच, गोल मिरच, मुरिच, मोरिच । म०—मिरे, काली मिराँ । क०—जोले-मेणसु । गु०—मरि, मरितीखा, मरी, कालामरी । ते०—मरिचमु, शक्यमु, मरियलु । ता०—मोल्ह शैवियम् । पं०—काली मरिच, गोल मिरिच । मा०—काली मरिच । मोटिया०—स्पोट । कारसी०—मर्ज । सिन्धी०—गूलमिरिच । मला०—लह, कुरु मुलक, कुरु मिलगु । अफ०—दारुगर्म । फा०—पिल्पिले अस्वद, फिल्फिल् अस्वद, स्याह गिर्द, हलपिला गिर्द, फिल्फिल् स्याह । अ०—फिल्फिले अवीद, फिल्फिल् गिर्द, फिल्फिलस्सोदाय, पिल्पिले गिर्द । अं०—Black pepper (ब्लैक पेपर) । ले०—Piper nigrum, Linn. (पाइपर नाइग्रम लिन.) । Fam. Piperaceae (पाइपरेसी) ।

दक्षिण कोंकण, आसाम, मलाबार तथा मलाया और स्याम इसका उत्पत्ति स्थान है । दक्षिण भारत के उष्ण और आर्द्र भागों में त्रिवाङ्कुर, मलाबार आदि खादर तथा गीली जमीन में यह अधिकता से उत्पन्न होती है । कच्छार, सिलहट, दार्जिलिंग, सहारनपुर और देहरादून के पास भी इसकी खेती की जाती है । वर्षा ऋतु में इसकी लता को पान के बेल के समान छोटे छोटे टुकड़े कर बड़े बड़े वृक्षों की जड़ में गाड़ देते हैं । ये लता रूप से बढ़ कर वृक्षों का सहारा पाने से उनके ऊपर चढ़ जाती हैं । पत्ते ५-७ इत्र लम्बे तथा २-५ इत्र चौड़े, गोलाकार, नुकीले तथा पान के पत्तों के आकार के होते हैं । फल—गुच्छों में लगते हैं । कच्चा अवस्था में फल हरे रङ्ग के होते हैं । उस अवस्था में चरपराइट-कम होती है । जब पकने पर आते हैं तब उनका रङ्ग नारंग लाल हो जाता है । उसी समय तोड़ कर सुखा लेते हैं । सूखने पर काले रङ्ग के हो जाते हैं । पूरे पक जाने पर तोड़ने से चरपराइट कम हो जाती है ।

पूर्वी मरिच की अपेक्षा दक्षिणी मरिच अधिक गुणदायक है । दक्षिणी मरिच ऊपर से भूरी तथा भीतर से हरियाली युक्त सफेद होती है । यह अधिक तीक्ष्ण होती है । पूर्वी मरिच ऊपर से अधिक काली और भीतर सफेद होती है । अधिक पके फलों को जब वे धीले हो जाते हैं तब तोड़कर पानी में फुला कर छिलके दूर करके सुखा लेते हैं । उसी को सफेद मरिच कहते हैं । मरिच के ऊपरी छिलके में कटु द्रव्य अधिक रहता है इसलिये सफेद मरिच कम कटु रहती है । इस सफेद मरिच को—बं० में 'सादा मरिच', म० में 'पांढरेमिरे, गु० में 'शोला मरी', क० में 'विलेय मेणसु' और ता० में 'मिळाओ' कहते हैं ।

2

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील, जल में न घुलनेवाला, पाइपरीन नामक एक २ भा० ति०

रवेदार क्षाराभ ५-९%, पाइपरीडीन ५%, चत्रिसीन नामक कडुराल, एक अन्य हरे रंग की कडुराल ६%, उडनशूल तैल १-२.५%, स्टाच ३०%, ईश्वर में घुलनशूल न उडने वाला पदार्थ ६%, प्रोटीड ७% तथा लिगनिन, गोंद आदि कुछ अन्य द्रव्य पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—मरिच का प्रयोग अनेक योगों में किया जाता है । यह सुगन्धि, उत्तेजक, पाचक, अग्निदीपक, रुचिकर, स्वेदकर, कफघ्न एवं क्रमिहर है । इसका उत्तेजक प्रभाव मात्र एवं मूत्र संस्थान को श्लेष्मल कला पर पड़ता है । इसके सेवन से मूत्र की मात्रा बढ़ती है और इसका उपयोग पुराने सुजाक में किया जाता है । इसके सेवन से आमाशयिक रस को वृद्धि होती है और पाचन की क्रिया सुधरती है । घृत के पाचन में यह विशेष उपयोगी है । इसका उपयोग आध्मान, अपचन, प्रवाहिका, आमाशय शैथिल्य आदि में अच्छा होता है ।

- (१) प्रवाहिका में इसके सूक्ष्म चूर्ण को हाँग एवं अफीम के साथ दिया जाता है ।
 - (२) स्याहजीरा एवं काली मिरच मधु के साथ नित्य सेवन से गुदा को श्लेष्मकला का संकोच होकर शुद्धशूल एवं अर्श में बहुत लाभ होता है ।
 - (३) इसके पाइपरीन नामक क्षार के ज्वरघ्न गुण के कारण इसका उपयोग मलेरिया में कीनीन के साथ अधिक प्रभावकारी है ।
 - (४) विसृचिका के प्रारम्भ में मरिच, अफीम तथा हाँग तीनों समान मात्रा में लेकर २ रत्ती की मात्रा में प्रत्येक २ या ४ घण्टे के बाद में देने से लाभ होता है ।
 - (५) खाँसी में मधु एवं घृत के साथ देने से लाभ होता है ।
 - (६) पुराने जुकाम में इसको गुड़ एवं दही के साथ सेवन करना चाहिये ।
- अधिक मात्रा में मरिच के सेवन से उदरशूल, वमन, बलित एवं मूत्र मार्ग प्रदाह, उदर आदि विकार उत्पन्न होते हैं ।

बाह्य प्रयोग—अनेक चर्म विकारों में एवं वायु के विकारों में किया जाता है ।

- (१) इससे सिद्ध तैल की मालिश आमवात, गठिया, अङ्घात एवं कण्डू, पामा आदि में उपयोगी है ।
- (२) घृत के साथ इसका लेप अर्श के मस्ते पर करने से वाताशूल एवं शिथिलता दूर होती है ।
- (३) फोड़े, फुन्सियों की आमावस्था में उनको बैठाने के लिए उन पर इसको पीस कर लगाया जाता है ।
- (४) विषैले कोड़ों के काटने पर विनेगर (सिरका) के साथ इसको पीस कर लगाना चाहिये ।
- (५) दही के साथ विसर्कर इसके अजन से अनेक नेत्र रोग जैसे रात्र्यंध, कण्डू आदि में लाभ होता है ।
- (६) सर की दद्रु के कारण यदि सर के बाल झड़ गये हों तो इसे प्याज और नमक के साथ लगाने से लाभ होता है । इसी प्रकार इसका लेप शिरःशूल में भी उपयोगी है ।
- (७) इसके काथ से कुला करने से दंतशूल दूर होता है एवं बढी हुई उपजिह्वा में भी लाभ होता है ।
- (८) इसका दंतमजनों में भी व्यवहार होता है ।

मात्रा—चूर्ण २-४ रत्ती ।

श्वेत मरिच—काली मरिच के समान ही गुण वाली लेकिन उससे कुछ हीन गुण होती है । इसका एक विशेष प्रयोग श्लेष्मल में शोथ के साथ बार २ ज्वर के आक्रमण को रोकने के लिए किया जाता है । बचनाम एक भाग और सफेदमरीच १५ भाग दूध में मिश्रित किया जाता है । रोज

दूध बदल दिया जाता है । इस प्रकार ३ दिन करने के बाद आदी के रस में घोंटकर १२० को गोली बनाई जाती है । इसकी १ गोली दिन में ३ बार दी जाती है ।

अथ त्रिकटुकनामलक्षणगुणानाह

विश्वोपकुल्या मरिचं त्रयं त्रिकटु कथ्यते । कटुत्रिकं तु त्रिकटु त्र्युषणं व्योष उच्यते ॥६२॥
त्र्युषणं दीपनं हन्ति श्वासकासत्वगामयान् । गुल्ममेहकफस्थौल्यमेदःश्लीपदपीनसान् ॥६३॥

त्रिकटु के लक्षण, नाम तथा गुण—सोंठ, पीपर तथा मरिच इन तीनों के योग को 'त्रिकटु' कहते हैं । कटुत्रिक, त्रिकटु, त्र्युषण और व्योष ये संस्कृत नाम 'त्रिकटु' के हैं । त्रिकटु-अग्निदीपक होता है तथा श्वास, कास, चर्मसम्बन्धी रोग, गुल्म, मेह, कफ, स्थूलता, मेद, श्लीपद और पीनस इन सब रोगों को दूर करता है ॥ ६२-६३ ॥

अथ पिप्पलीमूलस्य नामानि गुणाश्चाह

ग्रन्थिकं पिप्पलीमूलमूषणं चटकाशिरः । दीपनं पिप्पलीमूलं कटूषणं पाचनं लघु ॥ ६४ ॥
रूक्ष पित्तकरं भेदि कफवातोदरापहम् । आनाहप्लीहगुल्मघ्नं क्रमिश्वासक्षयापहम् ॥ ६५ ॥

पिपरामूल के नाम तथा गुण—ग्रन्थिक, पिप्पलीमूल, ऊषण और चटकाशिर ये संस्कृत नाम 'पिपरामूल' के हैं । पिपरामूल-अग्निदीपक, कटुरस वाला, उष्णवीर्य, पाचक, लघु, रूक्ष, पित्तकारक, मल को भेदन करने वाला, कफ, वायु एवम् उदर सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला होता है । तथा आनाह, प्लीहा, गुल्म, क्रमि, श्वास और क्षय इन सब रोगों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ६४-६५ ॥

८ पिप्लामूल

हि०-पीपलमूल, पीपरामूल । ब०-पिपुल मूल । म०-पिपली मूल, पिपलमूल, पिपला मूल । गु०-पीपरी मूलना गंडोडा, पांपली मूल, पीपरा मूल । क०-पिप्पलीयवर, हिष्पलीयवर, हिष्पली मूल । ते०-मोडा, पिप्पली वेर, पिपली दुम्प । पं०-पिपला मूल । मा०-पीपला मूल । ता०-पिपली मूल । फा०-फिल्फिलद्रे, फिल्फिल मूयह । अ०-फिल्फिलादराज, फिल्फिले सोया । अं०-Piper root (पाइपर रूट) । ले०-Root of the Piper longum Linn. (रूट ऑफ दी पाइपर लॉन्गम) ।

पीपल लता का गांठदार जड़ को पीपलामूल कहते हैं । इसको जगह किलने पंसारों पीपल लता की मोटी शाखाओं को छोटे-छोटे टुकड़े कर बेचते हैं । इसलिये अच्छी तरह देख भाल कर खरीदना चाहिये ।

गुण और प्रयोग—पीपला मूल पीपल के ही समान लेकिन कम गुण वाला है । यह पीपल से अधिक उत्तेजक है । डाक्टर देसाई के मतानुसार प्रसव होने में अधिक समय लग रहा हो तो पीपरामूल, ईश्वर मूल और हाँग, पान के साथ खिलाना चाहिये जिससे पांडा बढ़कर प्रसव हो जाता है । प्रसव के पश्चात् तुरत इसका पांड देने से आवल (अपरा) गिरने में सहायता होती है ।

अथ चतुरूषणस्य लक्षणगुणानाह

त्र्युषणं सकणामूलं कथितं चतुरूषणम् । व्योषस्यैव गुणाः प्रोक्ता अधिकाश्चतुरूषणे ॥ ६६ ॥

चतुरूषण के लक्षण, नाम तथा गुण—त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मरिच) में यदि पिपरामूल मिला दिया जाय तो इसे चतुरूषण कहते हैं । पहले जितने गुण त्रिकटु के कह आये हैं, वही सब गुण चतुरूषण में अधिक रूप से रहते हैं ॥ ६६ ॥

प्रयोग करने से यह सिद्ध हुआ है कि चतुरूपण ५ से ३० र० की मात्रा में दिन में दो बार न केवल खांसी, प्रतिरूपाय, स्वरभंग में उपयोगी है बल्कि उदरशूल, आध्मान आदि में भी बहुत उपयोगी है।

अथ चव्यनामगुणानाह

भवेच्चव्यं तु चविका कथिता सा तथोषणा । कणाभूलगुणं चव्यं विशेषाद् गृह्णापहम् ॥६७॥
चव्य के नाम तथा गुण—चव्य, चविका और ऊषण ये तीन संस्कृत नाम 'चव्य' के हैं। जो २ गुण 'पिपरामूल' के कह आये हैं वे ही सब 'चव्य' के भी होते हैं। केवल विशेषता यह है कि—यह अर्श (बवासीर) का नाशक होता है ॥ ६७ ॥

१ चव्य

हि०—चव्य, चाब, चाभ, चव । ख०—चेअर, चई, चोई । म०—चवक, कंकल, चाबचीनी । गु०—चवक, ते०—सेवासु, चैकाणी, चव्यसु । ता०—चव्य । ले०—*Piper chaba Hunter* (पाइपर चाबा इण्टर); *Piper officinarum Cas D. C.* (पाइपर ऑफिसिनेरम्) । Fam. Piperaceae (पाइपरसी) ।

चव्य के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। भावप्रकाशकार आगे गजपिप्पली के वर्णन में लिखते हैं कि विद्वानों ने चव्य के फल को गजपिप्पली कहा है। अर्वाचीन विद्वानों ने गजपिप्पली एवं चव्य ये दो अलग वनस्पतियाँ मानी हैं। और यही कारण है कि ये दोनों द्रव्य संदिग्ध की श्रेणी में आ गये हैं। अधिकांश विद्वानों ने जिन दो द्रव्यों को माना है उन्हीं का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। पाइपर चाबा को चव्य कहा गया है।

भारत के अनेक प्रान्तों में यह लगाई हुई मिलती है। यह वनस्पति जावा, सुमात्रा, मलाया आदि देशों में विशेषरूप से उत्पन्न होती है। इसके फल तथा कांड का उपयोग किया जाता है। संभवतः यह फल सिंगापुर के रास्ते कलकत्ते में आकर बड़ी पीपर के नाम से विकता है।

यह लताजाति की वनस्पति बहुत दृढ़ होती है। इस पर किसी प्रकार के रोम इत्यादि नहीं होते। इसकी शाखायें—वृक्षों की डालियों से खूब लिपटती हुई बढ़ती हैं और सूखने पर पीलापन युक्त सफेद रङ्ग की हो जाती हैं। पत्तों—५-७ इञ्च लम्बे तथा २-२।। से ३।। इञ्च तक चौड़े, आयताकार, अण्डाकार, और किञ्चित् नुकीले होते हैं, सूखने पर फीके या पीलापन युक्त सफेद रंग के हो जाते हैं। उनके ऊपर का भाग चमकदार होता है। इन पर रक्तवर्ण के फूल और फलों के गुच्छे लगते हैं। ये गुच्छे १-३ इञ्च लम्बे और १ इञ्च मोटे, अग्र की तरफ कुछ पतले एवं ढण्डल की तरफ मोटे गोल और भूरे रंग के होते हैं। फल—बहुत छोटे छोटे इञ्च के दसवें हिस्से के घेरे में अण्डाकृति आते हैं। ये फल सुगंधित एवं स्वाद में कटु होते हैं।

गुण और प्रयोग—चाब का उपयोग पीपर के समान ही किया जाता है। यह उत्तेजक एवं पाचक है तथा शूल, आध्मान, वृक्करोग तथा विशेष कर खांसी, जुकाम आदि गले के रोगों में उपयोग में आता है। यूनानी मतानुसार इसके फल का नस्य अपस्मार में उपयोगी है।

मात्रा—चाब चूर्ण—१ से २ माशे, चाब फल चूर्ण—२-४ र० ।

अथ गजपिप्पल्या नामानि गुणांश्चाह

चविकायाः फलं प्राशैः कथिता गजपिप्पली । कपिवल्ली कोलवल्ली श्रेयसीवशिरश्च सा ॥६८॥
गजकृष्णा कटुवातश्लेष्महृद्द्विबर्धिनी । उष्णः निहन्यतीसारं श्वासकण्ठामयक्रिमिन् ॥६९॥

'गजपीपल' के नाम तथा गुण—'चव्य' के फल का ही नाम 'गजपीपल' है ऐसा वैद्य लोग कहते हैं। कपिवल्ली, कोलवल्ली, श्रेयसी और वशिर ये सब संस्कृत नाम 'गजपीपल' के हैं। गज पीपल—कटुरसयुक्त, वात कफ नाशक, अग्निवर्धक और उष्ण वीर्य होती है तथा अतिसार, श्वास, कण्ठसम्बन्धी रोग और कृमि का भी नाश करती है ॥ ६८-६९ ॥

गजपिप्पली के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ चव्य के फल को गजपिप्पली मानते हैं तो कुछ सिडेप्सस् ऑफिसिनेलिस् के फल को मानते हैं। अधिकांश विद्वान सि. ऑफिसिनेलिस् को गजपिप्पली मानते हैं जो ठीक भी मालूम होता है। कुछ बाजारों में ताडवृक्ष के बाल (पुं-पुष्प व्यूह) को काटकर गजपिप्पली के नाम से बेचते हैं।

१० गजपीपल

हि०—गजपीपर, गजपीपल । व०—गजपीपल । म०—गजपिपली, थोरपिपली । क०—अङ्केवीलुवलि । गु०—मोटा पीपर । ते०—एनुगा पिप्पल । ता०—अनै तिप्पली । पं०—गजपीपल । सन्ताल०—दरे श्लोक । मल०—अतितिप्पली, अनेतिप्पली । ले०—*Scindapsus officinalis, Schott* (सिन्डे-प्सस् ऑफिसिनेलिस् स्काट); *Syn: Pothos officinalis Schott Melet* (पोथोस् ऑफिसिनेलिस्) । Fam. Araceae (अरसी) ।

इसकी लता आर्द्रसपाट मैदानों में हिमालय के प्रान्तों में सिकम से पूर्व की ओर बंगाल, चट्टागं, अस्सा तथा सिवालिक के जंगलों में शाल वृक्षों पर चढ़ी हुई पारि जाती है।

इसका डंठल—गूदेदार एक इञ्च या इससे भी अधिक मोटा एवं गोल होता है। पत्ते—बड़े बड़े, जैसे—५ से १० इञ्च तक लम्बे और २।। से ६ इञ्च तक चौड़े, अंडाकार, गाढ़े हरे होते हैं और शाखाओं पर विपरीत रहते हैं। पत्र वृन्त ३ से ६ इञ्च तक लम्बा और अन्त का हिस्सा हाथ की कोहनी के समान होता है एवं तलवार की म्यान के समान दिखाई पड़ता है। इसके भीतर का हिस्सा पीले रङ्ग का होता है। फल—रसयुक्त, गूदेदार, लगभग ६ इञ्च लम्बा, १।-२।। इञ्च व्यास में और नीचे की ओर लटका हुआ रहता है। इसका आगे का हिस्सा नोकदार होता है। इसके फल के आड़े कटे हुये सुखे टुकड़े बाजार में विकते हैं। ये १ इञ्च व्यास के, १ इञ्च मोटे और भूरे रङ्ग के होते हैं। इनमें गन्ध नहीं रहती तथा उन्हें जल में भिगोकर रखने से ये फूल कर नरम हो जाते हैं। इनके बीच में बीज होते हैं और उनके चारों ओर चूने के सूई के समान दाने होते हैं। बीज—वृक्काकार, चिकने, गांजे के बीज से बड़े और भूरे रङ्ग के होते हैं। इसके पत्ते का शाक बनाकर खाते हैं।

गुण और प्रयोग—सूखा हुआ फल—तीक्ष्ण, पसीना लाने वाला, सुगन्धिकारक, वातहर, कृमिनाशक, उत्तेजक, पाचक, एवं बल्य है। आमातिसार, श्वास और खांसी में जब कफ की अधिकता रहती है तब इसका उपयोग किया जाता है। इसके फांट को देने से कफ ढीला होकर निकलता है। संताल लोग इसको आमवात, संधिवात आदि रोगों में स्थानीय लेप के रूप में लगाते हैं। इसका उपयोग सुगंधित द्रव्य के रूप में अन्य औषधियों के साथ किया जाता है। इसमें १४ १/२ राख, गोंद तथा एक क्षाराम रहता है।

मात्रा—फांट (१ में १०) २-६ ड्राम ।

अथ चित्रकस्य नामानि गुणांश्चाह

चित्रकोऽनलनामा च पाठी ब्यालस्तथोषणः । चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृष्णाचनो लघुः ॥
रूक्षोऽग्नौ प्रहणीकुष्ठशोथार्शः कृमिकासनुत् । वातरलेऽमहरो प्राहीवातज्ञः श्लेष्मपिकहत् ॥

१. 'वातार्श' इति पाठा० ।

'चीता' के नाम तथा गुण—चित्रक, अनलनामा (अग्नि के जितने नाम हैं वे सब 'चीता' के भी होते हैं), पाठी, व्याल तथा ऊषण ये सब संस्कृत नाम चीता के हैं। चीता-पाक में कडुरस युक्त, अश्विर्वर्धक, पाचक, लघु (शीघ्र पचने वाला), रूक्ष और उष्ण वीर्य वाला है और यह ग्रहणी, कुष्ठ, शोथ, अर्श, कृमि तथा कास का नाशक होता है। तथा वात और श्लेष्मा को दूर करने वाला, ग्राही, वात और श्लेष्म एवं पित्त का नाशक होता है ॥ ७०-७१ ॥

११ चित्रक

हि०—चीत, चीता, चित्रा, चित्रक, चित्ता, चितरक, चितउर । बं०—चित्ता, चितु । म०—चित्रक । क०—पेछीचित्रमूल, चित्रकमूल । पं०—चित्रा । ते०—अग्निमत, चित्रमूल, तेलाचित्रा । ता०—पेंचोत्तर, कोदिवेल । उ०—धुवचिता । गु०—चित्रो, चित्रा, पितरो । मला०—वेलाकोटवेरि, कोडुबेलि । फा०—बेख बरंदा, बेख बरंदाह, शीतरह, शीतरुह, शीतरक, बेखबुरिंदा । अ०—शितरज, शितरझ, शीतरज हिन्दी, शैतरज । अं०—Ceylon Leadwort, White Leadwort (सीलोन लेडवोर्ट, हाइट लेडवोर्ट) । ले०—*Plumbago zeylanica Linn.* (प्लम्बैगो झेलनिका) । Fam. Plumbaginaceae (प्लम्बैजिनासी) ।

सफेद, लाल और नीले फूलों के भेद से चित्रक तीन प्रकार का होता है। कोई कोई पीले फूल का भी चित्रक बतलाते हैं किन्तु इसका उल्लेख किसी पुस्तक में देखा नहीं जाता। सफेद फूल का चित्रक बहुत मिलता है और लाल फूल का कहीं कहीं नमूने की तरह देखने में आता है और मिलता भी बहुत कम है। नीले फूल का चित्रक भी कम मिलता है जिससे नमूने की तरह भी बहुत कम ही वैद्य लोग देख पाये होंगे।

सफेद चित्रक इस देश के प्रायः सब प्रान्तों की जङ्गली झाड़ियों में देखा जाता है विशेष कर संयुक्त प्रान्त, बिहार, बङ्गाल, दक्षिण भारत, सीलोन और कुमाऊँ के पहाड़ों बहुत मिलता है। यह आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है और कहीं कहीं बाटिकाओं में भी है।

इसका छुप २ से ५ फुट तक ऊँचा होता है और बारहों मास मिलता है। गर्मी के दिनों में पत्ते प्रायः कम दिखाई पड़ते हैं किन्तु बरसात में हरे भरे हो जाते हैं। कांड पर लम्बाई में धारियाँ होती हैं। पत्ते-विपरीत, १॥ से ३॥ इञ्च तक लम्बे, १ से १॥ इञ्च चौड़े, अण्डाकार, नोकदार, चिकने, कोमल और मोगरा के समान होते हैं। फूल-जाड़े के दिनों में चमेली के फूल के समान अत्यन्त सफेद फूल आते हैं। फल-यव के आकार वाले लम्बे, कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर धूसर रङ्ग के, सूक्ष्म तथा चिपचिपे रोवों से भरे रहते हैं जो तोड़ने से आपस में सट जाते हैं और स्पर्श से लसीले जान पड़ते हैं। इसकी छाल-कालापन लिये भूरे रंग की, खड़े बल में कटी हुई और उस पर थोड़ी सी छोटी गांठें होती हैं। सूखी हुई जड़ तोड़ने से तुरत टूट जाती है। इसका स्वाद तीता, कड़वा और जिह्वा को सूई चुभाने के समान मालूम होता है। इसकी जड़ औषधि के काम आती है। यह हमेशा ताजी प्रयोग करनी चाहिये क्योंकि बहुत पुरानी होने पर यह गुणहीन हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में प्लम्बैजिन (Plumbagin) नामक एक रवेदार पदार्थ होता है। यह पीले रंग का, सुइयों के सदृश, दाहक एवं कड़ पदार्थ है। यह मधुसार एवं ईश्वर में अच्छी तरह घुल जाता है। लेकिन उबलते हुवे जल में बहुत थोड़ा घुलता है और गरम करने पर कुछ अंश में उड़नशील है। इसका द्रवणांक ७२° श० है। भारतवर्ष में प्राप्त होने वाली

इसकी सभी जातियों में इसकी अधिक से अधिक मात्रा ०.११% रहती है। सूखी जमीन में उत्पन्न होने वाले पुराने क्षुप में यह अधिक मात्रा में रहता है।

गुण और प्रयोग—चित्रक में रहने वाला प्लम्बैजिन अल्प मात्रा में केन्द्रीय वातनाडा संस्थान को उत्तेजित करता है लेकिन अधिक मात्रा में वह दाहजनक एवं सम्मोहक विष है जिससे श्वसन-क्रिया बन्द होकर मृत्यु हो जाती है।

चित्रकमूल—अग्निदीपक, गर्भाशय संकोचक, स्वेदजनक, कुष्ठहर, अशहर, रसायन, वात एवं कफहर है। इसका उपयोग मन्दाग्नि, अपचन, आध्मान, ज्वर, आमवात, आमातिसार, संग्रहणी, कुष्ठ, शोथ, पाण्डु एवं अर्श आदि रोगों में किया जाता है।

अल्प मात्रा में यह पाचक संस्थान की श्लैष्मिक कला को उत्तेजित करके पाचक स्रावों की वृद्धि करता है जिससे भूख अच्छी लगती है। खाया हुआ जल्दी पचता है। अर्श में इसके प्रयोग से गुदबली की शिथिलता दूर होकर लाभ होता है। गर्भाशय के ऊपर इसकी बहुत तीव्र संकोचक क्रिया होती है जिससे गर्भिणी में इसको किसी भी समय प्रयोग करने से एक दो ग्रहण में गर्भपात हो जाता है लेकिन गर्भ हमेशा मृत ही होता है। गर्भपात के लिये आंतरिक प्रयोग के साथ २ इसको गर्भाशयमुख में प्रविष्ट करते हैं या इसका लेप करते हैं। इसके प्रयोग में यदि विशेष सावधानी न रखी जाय तो इससे रक्तस्राव, धातुनाश एवं कोथ आदि गंभीर उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। अतः इसका प्रयोग गर्भिणी में कभी भी न करना चाहिये।

विषम ज्वर में यकृत प्लीहा वृद्धि होकर पाण्डु हो गया हो तो इसका सेवन करना चाहिये। सूतिका ज्वर में निरुण्डी के साथ इसके उपयोग से ज्वर कम होता है तथा दूषित-आतं व निकलकर मकलशूल भी दूर होता है।

- (१) अधिमांश, अरोचक, अजीर्ण, अतीसार आदि में चित्रक, वायविहङ्ग एवं मुस्ता का प्रयोग करना चाहिये।
- (२) अर्श में इसे दही के साथ सेवन करना चाहिये।
- (३) यकृत एवं प्लीहा वृद्धि में इसका क्षार मट्टे के साथ उपयोगी है।
- (४) इसका उपयोग कुष्ठ, फिरङ्ग की द्वितीयावस्था आदि में लाभकारी है।

चित्रक मूल बाह्य प्रयोग में तीव्र कृमिघ्न, दाहजनक, एवं स्फोटोत्पादक है। आमवात, संधिशूल अङ्गघात आदि में इससे सिद्ध तैल की मालिश करने से लाभ होता है। प्लेग की गांठों पर गांठों को फोड़ने के लिये इसको काम में लाते हैं। श्वित्र एवं खालित्य में इसका लेप उपयोगी है।

आमवातादि में स्फोटोत्पादन के लिये इसका लेप १५,२० मिनट से अधिक न रखना चाहिये। इससे उत्पन्न स्फोटों में पीडा बहुत होती है इसलिये जहां तक हो उसका प्रयोग न किया जाय।

हानिकारक—फुफ्फुस, यकृत और गर्भ।

दर्पनाशक—फुफ्फुस के लिये मस्तगी एवं बबूल का गोंद तथा यकृत के लिये गुलाब के फूल एवं चन्दन।

मात्रा—३ से २ माशा।

१२ लाल चीता

हि०—लाल चीत, लाल चीता, लालचित्रक, लाल चितउर इत्यादि । बं०—लालचित्ता, रक्तो-चितो । म०—लालचित्रक । क०—केम्पू, चित्रमूल । ते०—वेराचित्रमूलम् । ता०—शिवपु चित्रमूलम्,

चित्रमूल, कोडिमूली । उ०-रक्तचिता, रक्तचिता । मला०-चेक्कीकोडुवेरी । अं०-Rose coloured Leadwort (रोज कलर्ड लेडवोर्ट) । ले०-*Plumbago rosea* Linn. (प्लम्बगो रोशिया) ।

यह सिक्कम और खसिया की तराइयों में पाया जाता है । इसको वाटिकाओं में भी लगाते हैं परन्तु थोड़ी असावधानी से नष्ट हो जाता है ।

इसका छुप २-४ फुट ऊंचा, सदा हरा भरा रहता है । गर्मी के दिनों में कुछ पुराने पत्ते सूखकर गिर जाते हैं । पत्ते-उक्त चित्रक के समान होते हैं । फूल-लाल और फल सफेद चीते के समान लसीले होते हैं ।

जाल चित्रक गुणों में सफेद चित्रक की अपेक्षा अधिक प्रभाव शाली और तीव्र गुण सम्पन्न है, विशेषकर रुचिकारी, रसायन, शरीर को नवीन और स्थूल करने वाला, पारे को बांधने वाला, लोहे को वेधने वाला तथा कुछ को नष्ट करने वाला है । इसकी थोड़ी मात्रा उत्तेजक तथा अधिक मात्रा तीव्र मदकारी विष के समान हानिकारक होती है ॥ १२ ॥

१३ नीला चित्रक

ले०-*Plumbago capensis* Thumb (प्लम्बगो कैपेनसिस थम्ब)

काले चित्रक का छुप-उक्त चित्रक के समान किन्तु पत्र चाकिक क्रम में आते हैं । पुष्प सफेदी युक्त नीले रङ्ग के होते हैं । यद्यपि यह दक्षिण अफ्रिका का आदिवासी है तथापि बागों में लगाया हुआ मिलता है ।

लोग यह भी कहते हैं कि नीले चित्रक के सेवन करने से बाल काले हो जाते हैं और यदि गौ इसके क्षुप को केवल सूँघ ले अथवा इसकी जड़ दूध में डाली जावे तो दूध का रङ्ग काला हो जाता है । परन्तु इसमें कहां तक सत्यता है परीक्षा करने से ही मालूम हो सकती है ।

अथ पञ्चकोलस्य लक्षणगुणानाह

पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्यचित्रकनागरेः । पञ्चभिः कोलमात्रं यत्पञ्चकोलं तदुच्यते ॥७२॥
पञ्चकोलं रसे पाके कटुकं रुचिकृन्ममत्म् । तीक्ष्णोष्णं पाचनं श्रेष्ठं दीपनं कफघ्नतनुत् ॥

गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥ ७३ ॥

'पञ्चकोल' के लक्षण तथा गुण—पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता तथा सोंठ ये सब पांच द्रव्य यदि कोलमात्र अर्थात् आधा २ तोला की मात्रा में एकत्र किये जाय तो उसी को 'पञ्चकोल' कहते हैं । पञ्चकोल-स्वाद तथा पाक में कटुरस युक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य होता है । तथा पाचक अत्यन्त अग्निदीपक, कफ-घ्न, वात नाशक, गुल्म, प्लीहा, उदरसम्बन्धी रोग, आनाह और शूल का नाश करने वाला तथा पित्त को कुपित करने वाला होता है ॥ ७२-७३ ॥

मात्रा—५-१५ र० दिन में दो बार ।

अथ षडूषणस्य लक्षणगुणानाह

पञ्चकोलं समरिचं षडूषणमुदाहृतम् । पञ्चकोलगुणं तत्तु रूक्षमुष्णं विषापहम् ॥ ७४ ॥

'षडूषण' के लक्षण तथा गुण—ऊपर कहे हुये 'पञ्चकोल' के पीपल आदि पांचों द्रव्यों के साथ यदि छठा द्रव्य 'मरिच' भी सम भाग में मिला दिया जाय तो उसे 'षडूषण' कहते हैं । पञ्चकोल के

जो गुण कह आये हैं वे ही सब 'षडूषण' के समझने चाहिये, अन्तर केवल इतना ही है कि यह रूक्ष, उष्ण तथा विषनाशक भी होता है ॥ ७४ ॥

अथ यवान्या नामानि गुणाश्चाह

यवानिकोग्रगन्धा च ब्रह्मदर्भाऽजमोदिका ॥ ७५ ॥

सैवोक्ता दीप्यका दीप्या तथा स्याद्यवसाह्वया ।

यवानी पाचनी रुच्या तीक्ष्णोष्णा कटुका लघुः ७६ ॥

दीपनी च तथा तिक्ता पित्तला शुक्रशूलहृत् । वातश्लेष्मोदरानाहगुल्मप्लीहकृमिप्रणुत् ॥७७॥

'अजवायन' के नाम तथा गुण—यवानिका, उग्रगन्धा, ब्रह्मदर्भा, अजमोदिका, दीप्यका, दीप्या और यवसाह्वया ये सब नाम 'अजवायन' के हैं । अजवाइन—पाचक, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, कटुरसयुक्त, परिपाक में लघु, अग्निदीपक, तिक्तरसयुक्त, पित्तवर्धक एवम् शुक्र तथा शूल की नाशक है । और यह वात, श्लेष्मा, उदरसम्बन्धी रोग, आनाह, गुल्म, प्लीहा तथा कृमि की भी नाशक है ॥ ७५-७७ ॥

१४ अजवायन (यवानी)

हि०-अजवायन, अजवाइन, अजमायन, जवाइन, जवायन, अजवां, अजोवां । अं०-यमानी, यउयान, योयान्, जोवान् । मं०-ओवा, उंवा । गु०-अजमा, यवान, जवाइन, अजमो । क०-वोम, ओमु । ते०-वासु, ओममी, ओमसु, ओमा । ता०-अमन, ओमन्, ओमन । मा०-अजवाण । क०-वोहरा । काश्मी०-जविन्द । फा०-नासुखा, क्षिनियानस नानुखाह, जीनान् । अ०-कमूमे-मुलकी, अमूसा, तोलिबउल खुब्जा । अं०-The Bishop's weed (दी बिशॉपस वीड); Ajoia seeds (अजोवां सीड्स), Lovage (लोहाज) । ले०-*Carum copticum* Benth & Hook (करम् कोप्टिकम्); Syn: *Trachyspermum ammi* Linn. (ट्रैकीस्पर्मम् अम्मी लिन); Syn: *Ptychotis ajowan* DC (प्टिकोटिस् अजोवां) । Faw. Umbelliferae (अबेलिफेरी) ।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में हरसाल खेतों में यह बोई जाती है विशेषकर इन्दौर तथा हैदराबाद राज्य में यह अधिकता से होती है । यह अफगानिस्तान, बल्चिस्तान, पर्सिया, मिश्र और यूरोप आदि देशों में भी उत्पन्न होती है ।

इसका छुप १ से ३-फुट तक ऊंचा, पत्ते—धनिये के पत्ते के समान कटीले, अनेक भागों में विभक्त, डोलियों पर दूर-दूर आते हैं । फूल—छत्ते से, सफेद रंग के बारीक आते हैं । फल—नन्हें-नन्हें रहते हैं । छत्ते पकने पर फल निकाल लिए जाते जाते हैं । इन्हीं फलों को अजवायन कहते हैं । ये फल बहुत छोटे, दबे हुए, गोल अंडाकार, २ मि० मि० लम्बे, भूरे रंग के होते हैं । इनकी ऊपरी सतह पर छोटी-गुठें एवं प्रत्येक अर्ध खण्ड पर पांच धारियां होती हैं । इसमें अजवायन की विशिष्ट गंध होती है ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल जिसे अजवाइन का तैल कहते हैं, २ से ३% पाया जाता है जिसमें से ४०-५०% थाइमॉल रहता है । इसमें पाये जाने वाले रवेदार पदार्थ स्टिअरोप्टिन, जिसे अजवाइन का फूल या अजवायन का सत्व कहते हैं डाक्टरी के थाइमॉल के समान होता है । इसके अतिरिक्त इसमें साइमोन, टरपेन आदि पदार्थ रहते हैं ।

गुण और प्रयोग—अजवायन अग्निदीपक, पाचक, उष्ण, उद्वेघ्न निरोधी, उत्तेजक, बल्य, कृमिघ्न, संक्रमण निरोधी, दुर्गन्धिनाशक एवं सड़न को दूर करने वाली है। इसका उपयोग अतिसार, कुचपन, अजीर्ण, उदरशूल, आध्मान, विसूचिका आदि रोगों में किया जाता है।

इसमें सरसों और मिर्चा का तीतापन, चिरायते का कड़वापन, एवं हींग का उद्वेघ्न निरोधी गुण तीनों एक साथ हैं। इसका उपयोग अनेक औषधियों विशेषतया एरंड तैल की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए किया जाता है। पुरानी खाँसी में जब कफ बहुत कम रहता है तब इसके प्रयोग से कफ ढीला होकर निकल जाता है। श्वास में गरम पानी के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है या इसको चिलम में रखकर पीते हैं। अजवायन का चूर्ण और सेंधानमक अजीर्ण से उत्पन्न विकारों की घरेलू दवा है।

(१) उदरशूल, आध्मान आदि विकारों में अजवायन, सेंधानमक, सौंचरनमक, यवक्षार, हींग और आंवला इनके चूर्ण को ३ से १ माशा की मात्रा में मधु के साथ दिया जाता है।

(२) शराबियों को मद्य की आदत छुड़ाने के लिये शराब पीने की इच्छा होने पर इसे चवाने को दिया जाता है।

(३) बच्चों के रोगों में तथा हैजे में इसका अर्क बहुत उपयोगी है।

(४) अजवायन का सत्व—बहुत अच्छा कृमिघ्न, सड़न को दूर करने वाला, प्रतिदूषक पदार्थ है। इसका उपयोग घोल के रूप में व्रण प्रक्षालन के लिये किया जाता है।

अजवायन का सत्व, पेपरमिट का सत्व और कपूर तीनों मिलाने से एक तरल पदार्थ बनता है जिसका विसूचिका के प्रारम्भ में ३, ४ बूँद बतासे के साथ व्यवहार किया जाता है। इससे कै, दस्त कम होकर लाभ होता है। अमृतधारा जैसे प्रचलित पेटेण्ट योगों में ये ही औषधियाँ मूलतः रहती हैं। यह आंत्रिक कृमियों पर विशेषकर अंकुश कृमि में बहुत उपयोगी है। संधिशूल आदि में इसको लगाने से लाभ होता है। अजवायन का सत्व दंतशूल में उपयोगी है।

(५) इसकी पुष्टिस बनाकर उदरशूल, आमवात, सन्धिशूल आदि में सेंका जाता है। विसूचिका में हाथ, पैरों को तथा श्वास और खाँसी में छाती को इससे सेंकने से लाभ होता है।

(६) इसके पत्तों का रस कृमियों को मारने के लिये काम में आता है एवं पत्तों को पीसकर कीड़ों के काटे हुए स्थानों पर लगाया जाता है। पत्तों के अन्य गुण शाकवर्ग में देखें।

मात्रा—चूर्ण—३ मे ६ माशा, अर्क—१ से २ औंस, सत्व—३ से १ र०।

अथ अजमोदाया नामानि गुणांश्चाह

अजमोदा खराश्वा च मायूरो दीप्यकस्तथा । तथा ब्रह्मकुशा प्रोक्ता कारवीलो^३ चमस्तका ।
अजमोदा कटुस्तीक्ष्णा दीपनी कफनातनुत् । उष्णा विदाहिनी हृद्या वृष्या बलकरी लघुः ।
नेत्रामय^२ कृमिच्छर्दिहिकवावस्तिरुजो हरेत् ॥ ७९ ॥

'अजमोदा' (बड़ीअजवाइन) के नाम तथा गुण—अजमोदा, खराश्वा, मायूरो, दीप्यक, ब्रह्मकुशा, कारवी और लोचमस्तका ये सब नाम 'अजमोदा' के हैं। अजमोदा—कटुरसयुक्त, तीक्ष्णवीर्य, अग्निदीपक, कफनातनाशक, उष्णवीर्य, विदाही, हृद्य (हृदय के लिये हितकर), वृष्य,

१. 'मायूर' इति पाठा० । २. 'च' समस्तके'ति पाठा० । ३. 'करी' पाठा० ।

बलकारक और परिपाक में लघु होती है। और यह नेत्ररोग, कृमि, वमन, हिकका (हिकका) एवं अस्तिसम्बन्धी रोगों को नाश करने वाली होती है ॥ ७८-७९ ॥

१५ अजमोदा

हि०—अजमोद, अजमोदा, अजमूदा, अजमोत । **ब०**—वनयमानी, रान्धुनी, अजमूद, चनु । **गु०**—बोड़ी अजमोद, अजमोद, बोड़ी अजमो । **ते०**—आजामोदा, वोमा, अशमदागां, वोमां, अजोदा-वोमरु । **मध्य प्र०**—रान्धुनी । **पं०**—भूतजटा । **ता०**—अशम, टागम, तागम, अशमता ओमान् । **म०**—अजमोदा वोवा, कोरंजा । **फ०**—अजमोदा वोमा । **फा०**—करप्स । **अ०**—बज्रूल् करप्स । **अं०**—Celery fruit (सेलेरी फ्रूट); Apii fructus (अप्पाई फ्रक्टस्) । **ले०**—*Apium graveolens*, Linn. (एपिअम् ग्रैवोलेन्स लिन) । **Fam.** Umbelliferae (अंबेलिफेरी) ।

यूरोप, अमेरिका तथा भारतवर्ष में इसकी खेती की जाती है। पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेश में इसकी विशेष खेती होती है। यह उत्तर पश्चिमी हिमालय तथा पञ्जाब के पहाड़ी प्रान्तों में भी उत्पन्न होता है।

इसका लुप २ से ३ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते—अनेक भागों में विभक्त, प्रत्येक भाग गहरे काटे फिनारे वाले होते हैं। फूल—सफेद और छोटे छत्ते से होते हैं। फल—पीताम, भूरा, गोलाभ अंडाकार, १ से १.५ मि. मि. लंबा, १.५ मि. मि. चौड़ा, ०.५ मि. मि. मोटा एवं प्रत्येक अर्धखण्ड पर ५ गहरी धारियों से युक्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक हल्के पीले रङ्ग का उड़नशील तैल १.५-३% पाया जाता है जिसमें एक विशेष प्रकार की इसकी गन्ध होती है। इसके अतिरिक्त इसमें गन्धक, अपो-इल Apoil नामक एक विषैला पदार्थ, एक ग्लूकोसाइड अपीरिन (Glucoside-Apium), अल्ब्यू मिन्, गोंद और क्षार आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, पाचक, वातानुलोमक, उत्तेजक, वातशामक, बल्य, मूत्रल, गर्भाशय संकोचक एवं हृद्य है। घरेलू औषधि के रूप में इसका उपयोग आमवात, उदरशूल, आध्मान, वमन, हिकका, कुचपन आदि रोगों में किया जाता है। इसको वातरक्त, कृमि, मूत्राशय के रोग और नष्टार्तव में काम में लाते हैं।

इसके उद्वेघ्न निरोधी गुण के कारण श्वसनिका शोथ, श्वास एवं उदरशूल आदि विकारों में इसका व्यवहार किया जाता है। इसका पथरी के रोग में भी व्यवहार होता है। यकृत और प्लीहा के रोगों में भी यह कुछ लाभदायी है। मसाले के रूप में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

(१) इसका तैल उद्वेघ्न निरोधी, वातनाडियों के लिये बल्य एवं आमवाताभे संधिशोथ में लाभदायी है।

(२) इसका मूल रसायन एवं मूत्रल माना गया है और इसका उपयोग सर्वांग शोफ और शूल में किया जाता है।

(३) इसके मूल से बना कोफ़ी मस्तिष्क एवं वातनाडियों के लिये बलदायक मानी गई है।

(४) यह अपस्मार एवं गर्भिणी के लिये हानिकारक माना गया है।

मात्रा—फल चूर्ण—१ से ४ माशा ।

१६ अजवायन जंगली (१)

यह दो प्रकार की होती है जिनका अलग-अलग वर्णन नीचे संक्षेप में दिया गया है।

सं०—वन्ययमानी ? । म०—किरमिजी अजवां । खं०—बनजोवान । ले०—*Seseli indicum* W. & A. (सिसिली इण्डिकम्) । Fam. Umbelliferae (अम्बेलीफेरी) ।

यह हिमालय के निचले भागों में देहरादून से लेकर गोरखपुर, बुंदेलखण्ड, आसाम, मध्य बंगाल तथा कारोमण्डल तक होती है ।

इसके छुप-वर्षायु, ४ से १२ इंच तक ऊँचे, अनेक शाखा प्रशाखाओं से युक्त सघन देखने में आते हैं । पत्ते-विभक्त, कटे किनारे वाले और रोमश होते हैं । फूल—छत्ते से सफेदी युक्त गुलाबी रंग के, फल—बारीक छोटे-छोटे गोल, किञ्चित् लम्बे फोंके पीले रंग के होते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसके फल प्रायः पशुओं के लिये औषधि के काम में अधिक आते हैं । यह उत्तेजकदीपन, पाचन, शूलघ्न, आंतों के लिये हितकारी तथा विशेषरूप से गोल कृमि का नाशक है ।

इसके सेवन से पेट के आफरे में लाभ होता है और भूख बढ़ती है ।

मात्रा—१ से ३ माशा ।

१७ अजवायन जंगली (२)

हि०—बन अजवायन । पं०—माशो, रांगस्वर, मरिज़ह । फा०—हाशा । अं०—Wild Thyme (वाइल्ड थाइम्) । ले०—*Thymus serpyllum* Linn. (थाइमस् सर्पाइलम) । Fam. Labiatae (लेविपटी) ।

यह हिमालय के गरम प्रांतों में काश्मीर से कुमाऊँ तक एवं ईरान में होती है ।

यह छुप जाति की बनीषधि अनेक शाखा प्रशाखाओं से युक्त, सघन, कुछ रोमयुक्त, ६ से १२ इंच तक ऊँची और सुगन्धित होती है । पत्ते-अवृन्त, इंच के अष्टमांश से चतुर्थांश के घेरे में किञ्चित् आयताकार अण्डाकार होते हैं और उन पर तैलीय धब्बे होते हैं । फूल—बारीक बैंगनी रंग के गुच्छों में आते हैं । फल—बारीक और चिकने होते हैं ।

इस औषधि का पञ्चांग व्यवहार में आता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल ०.६%, टैनिन तथा गोंद पाया जाता है । इसमें थायमॉल (अजवायन का सत्व) बहुत ही थोड़ी मात्रा में होता है ।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, सड़न को दूर करने वाली, मूत्रजनन, उत्तेजक, आंखों के लिये हितकर, श्वास एवं कफहर, ग्राही, कृमिघ्न, व्रणशोधक और व्रणरोपक है । सड़न को दूर करने का इसका गुण बहुत स्पष्ट है ।

(१) इसका स्वरस, सिरका और मधु पुरानी खांसी, श्वास, कुक्कुर खांसी और घटसर्प तथा आंत्रिक व्रणों में दिया जाता है ।

(२) अजीर्ण और अग्निमांघ में सैन्धव के साथ इसको दिया जाता है । यह ग्राही है तथा इससे उदरशूल दूर होता है ।

(३) बस्ति पीडा, बस्ति शोथ, तथा लसिकामेह (Chyluria) एवं मूत्र स्वच्छ न होने पर इसका काथ मधु और सिरके के साथ दिया जाता है ।

(४) चर्मरोग जैसे दाद, खुजली आदि में यह बहुत लाभदायी है ।

(५) अग्निदग्ध व्रण पर इसका स्वरस घी के साथ लगाते हैं ।

(६) सन्धिशोथ आदि में इसको रेंडी के तैल के साथ पीसकर लगाते हैं तथा इसका काथ पीने को देते हैं ।

(७) इसकी चटनी दृष्टि के लिये उपयोगी है ।

(८) इसका धूपनार्थ प्रयोग करने से हवा शुद्ध होती है ।

मात्रा—चूर्ण— $\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ तोला । तैल—१ से ३ बूंद ।

अथ पारसीकयवानीगुणानाह

पारसीकयवानी तु यवानीसदृशी गुणः । विशेषात्पाचनी रुच्या ग्राहिणी मादिनी गुरुः ॥८०॥

खुरासानो अजवाइन के गुण—पारसीकयवानी अर्थात् खुरासानो अजवाइन का भी गुण अजवाइन के समान ही जानना चाहिये । किन्तु विशेषता यह है कि यह पाचक, रुचिकारक, ग्राही, मादक तथा परिपाक में गुरु होती है ॥ ८० ॥

१८ पारसीक यवानी

हि०—खुरासानो अजवायन, खुरासानो अजवाइन, खुरसाना । ख०—खुरासानो अजोवान । म०—खुरासानो ओवा, खुरासाण ओवा । गु०—खुरासाणी अजमो, छुहारी अजमोद । तै०—खुरासानो वाम । ता०—खुरासानो योमाम । पं०—खुरासानो अजवाइन, बजरल । मा०—खुरासानो अजवाण । क०—खुरासानो वोभं । फा०—तुखम वजे, वज्जदिवाना, बज, तुखमविनग, तुखमवंग । अ०—बजरल बज, अवीद शिकरान, बजुलवज, बजरल विनग । यू०—अजवायनी खुरसानो । अं०—Hebāne (हेनबेन) । ले०—*Hyoscyamus niger*, Linn. (हायोसायामस् नाइगर लिन) । Fam. Solanaceae (सोलेनेसी) ।

खुरासानो अजवायन केवल खुरासान देश में ही नहीं बल्कि इसके छोटे छोटे छुप योरप और मध्य एशिया के कई प्रान्तों के जङ्गलों तथा कूड़ों के ढेर पर उगे हुए रहते हैं । हमारे देश में पश्चिम हिमालय के गरम प्रान्तों में काश्मीर से गढ़वाल तक पाये जाते हैं और सहारनपुर, पूना, आगरा और अजमेर के आस पास के कितने ही स्थानों में इसकी खेती की जाती है ।

इसकी अन्य जातियां H. reticulatus (हा. रेटिक्यूलेटस) तथा H. muticus (हा. म्यूटिकस—कोहीभंग) होती हैं । H. muticus (हा. म्यूटिकस) अधिक विषैली होती है तथा यह पश्चिमी पञ्जाब और सिन्ध के जङ्गलों प्रदेशों तथा नदियों के किनारों पर उत्पन्न होती है एवं हा. रेटिक्यूलेटस् वलुचिस्तान में होती है । इसका पौधा—सीधा, रोमश, चिपचिपा, उग्रगन्धयुक्त एवं १-३ फीट ऊँचा होता है । पत्ते—धतूरे के समान, कुछ कटे किनारेवाले, दन्तुर. नीचे के सवृन्त आयताकार, अंडाकार किन्तु ऊपर के अवृन्त अंडाकार होते हैं । पुष्प—पीले रंग के, पांच पंखडीवाले और आकार में तमाखू के फूलों के समान होते हैं तथा उन पर जासुनी रेखायें होती हैं । फल—अंडाकार, ३ इंच व्यास के एवं दो खण्डों में विभक्त होते हैं । बीज—भूरे, धूसर, चिपटे, वृक्काकार, या घोंघा की तरह, १.५-१.७५ × १-१.२ × ०.५-०.७ मि. मि. बड़े, भारीदार, गंधहीन एवं अल्पतिक होते हैं ।

हा. म्यूटिकस के बांज-पीताभ, चिपटे, गोलाई लिये हुवे चौकोर, करोब उतने ही बड़े किन्तु सूक्ष्म गद्देदार, अल्प उग्रगन्ध युक्त किन्तु स्वादहीन होते हैं । बजार में दोनों मिले हुवे मिलते हैं जिसमें अन्य पदार्थ भी मिले हुवे पाये जाते हैं ।

आयुर्वेद में बांजों का तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पत्र तथा पुष्पित अग्रभाग के विभिन्न कल्पों का उपयोग किया जाता है ।

यूनानी चिकित्सकों के मत से खुरासानी अजवायन सफेद, काली और लाल तीन जाति की होती है। इनमें से काली विष के समान हानिकर और घातक मानी जाती है।

रासायनिक संगठन—इसकी पत्तियों में हायोसापमिन (Hyoscyamine) नामक क्षाराम तथा अल्प मात्रा में हायोसीन (Hyoscyne) या स्कोपोलामाइन (Scopolamine), अट्रोपिन (Atropine), हायोसिप्रिन (Hyoscyprin), कोलिन (Cholin), तैल, गोंद, अल्ब्यूमिन तथा पोटेशियम नाइट्रेट २% आदि पदार्थ रहते हैं। इसकी विभिन्न जातियों में क्षारामों की मात्रा भिन्न-भिन्न रहती है। सहारनपुर तथा काश्मीर में लगाये पौधों में इनकी मात्रा प्राकृत पौधों की अपेक्षा अधिक (०३%) होती है, तथा ब्रिटिशफार्माकोपिया के प्रतिमान (०५५%) के करीब होती है। इसके बीजों में हायोसापमिन (Hyoscyamine), २५% तैल, तथा राख ४-५% होती है।

गुण और प्रयोग—यह अवसादक, वेदनाहर, स्वापजनक, उद्वेघन निरोधी, शामक, बल्य, कनीनिका विकासि, दीपन, पाचन तथा कृमिघ्न है। यह बहुत अच्छा वेदनाहर एवं निद्राकर है। इससे अफीम के समान काम्बियत नहीं होती। इसकी क्रिया बेलाडोना की तरह होती है, लेकिन इससे मस्तिष्क कम उत्तेजित होता है और सुषुम्ना एवं आन्त्र पर इसकी अवसादक क्रिया होती है। इससे अनैच्छिक मांस पेशियों के उद्वेघन के कारण होने वाले शूल—जैसे नाग (Lead) शूल तथा मूत्रमार्ग प्रक्षोभ से उत्पन्न शूल—दूर होते हैं।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, निद्राभंग, आक्षेप, नाडीशूल तथा अनेक मस्तिष्क के विकार एवं मानसिक अस्वस्थता में किया जाता है। सूखी खांसी एवं दमा में श्वसनिकाओं का संकोच दूर होकर लाभ होता है। यह विरेचक औषधियों से उत्पन्न मरोड को दूर करती है। पथरी एवं बस्तिशोथ आदि से उत्पन्न प्रक्षोभ में यकृद्धार, पाठा तथा गुरुच के साथ यह बहुत गुणकारी है। अल्प मात्रा में देने से यह हृदय के लिये शामक है, और बल्य होने से हृदय की धड़कन में इससे लाभ होता है। पीडितातंत्र, अनियमिततंत्र में भी इसका अच्छा उपयोग होता है। मद्य के साथ इसको बीजों को पीसकर स्तनशोथ, अंडशोथ, यकृत पीडा एवं संघिशोथ में लगाने से शोथ एवं वेदना कम होती है। दांत के गड्ढे में इसके बीजों को पीस कर रखने से दंतशूल दूर होता है। इसको अंगारों पर जलाकर उसके धूर को मुख में जाने देने से भी दंतशूल में लाभ होता है।

अधिक मात्रा में यह मादक विष है जिससे प्रलाप, संन्यास आदि होकर शीघ्र मृत्यु होती है। वृद्ध एवं दुर्बल इसकी अधिक मात्रा सहन नहीं कर सकते, लेकिन बच्चे अधिक मात्रा सहन कर सकते हैं।

मात्रा—पत्र चूर्ण १३-३ र., बीज चूर्ण १३-३ र., तरल एक्स्ट्रैक्ट ३-६ वूद, शुष्क एक्स्ट्रैक्ट ३-३ र., टिंक्चर ३०-६० वूद।

अथ शुक्लजीरककृष्णजीरककालिकानां नामानि गुणांश्च

जीरको जरणोऽजाजी कणा स्याद्दीर्घजीरकः ॥ ८१ ॥

कृष्णजीरकः सुगन्धश्च तथैवोद्गारकोधनः। कालाजाजी तु सुषवी कालिका चोपकालिका ॥ ८२ ॥
पृथ्वीका कारवी पृथ्वी पृथुकृष्णोपकुञ्जिका। उपकुञ्जिका च कुञ्जिका च बृहज्जीरक इत्यपि ॥ ८३ ॥
जीरकत्रितयं रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राही पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥ ८४ ॥
ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रुच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुरुमच्छर्त्तिसार हृत् ॥ ८५ ॥

सफेद जीरा, स्याह जीरा तथा कलौजी (मंगरौला) के नाम तथा गुण—उसमें से जीरक, जरण, अजाजी, कणा और दीर्घजीरक ये सब 'सफेद जीरा' के नाम हैं। कृष्णजीरक, सुगन्ध और उद्गारशोधन ये नाम 'स्याहजीरा' के हैं और कालाजाजी (कोई २ काला तथा अजाजी ऐसा पृथक् दो नाम मानते हैं), सुषवी, कालिका, उपकालिका, पृथ्वीका, कारवी, पृथ्वी, पृथु, कृष्णा, उपकुञ्जिका, उपकुञ्जिका, कुञ्जिका और बृहज्जीरक ये सब नाम कलौजी (मंगरौला) के हैं। **तीनों प्रकार के जीरे**—रूक्ष, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, परिपाक में लघु, संग्राही, पित्तकारक, मेघा के लिये हितकारी, गर्भाशय को शुद्ध करने वाले, ज्वरनाशक, पाचक, वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक, रुचिजनक, कफनाशक, नेत्रों के लिये हितकारी और वायु, आध्मान, गुल्म, वमन और अतिसार को भी दूर करने वाले होते हैं ॥ ८१-८५ ॥

१९ शुक्लजीरक (जीरा)

हि०—जीरा, सादाजीरा, साधारण जीरा, सफेद जीरा। ब०—सादाजीरे, शाहाजीरे, जीरे। म०—जीरें, पांढरे जीरे। गु०—जीरं, शाकनु जीरं, सादु जीरं, थोडु जीरं। क०—जीरिंगे, विलिय जिरीगे विलिय जीरिंगे। ते०—जिलकारा, जील करर, जील करं। ता०—शीरागम। यू०—रवामुने। फा०—जीरये सफेद। अ०—कमून अवियज़। अं०—Cumini seed (क्युमिन सीड)। ले०—Cuminum cyminum Linn. (क्युमिनम् साइमिनम्, लिन.)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

जीरा—एक सर्वप्रसिद्ध मसाले की वस्तु है। आसाम और बंगाल के सिवा प्रायः सब प्रान्तों में विशेषकर राजपूताना और उत्तर भारत के कई प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है।

यह खेतों में प्रति वर्ष बोया जाता है। इस क्षुप जाति की वनस्पति की शाखाएँ पतली होती हैं। पत्ते-सौंफ के पत्तों के समान पतले-पतले, लम्बे तथा २-३ एक साथ रहते हैं। बारीक सफेद फूलों के छत्ते लगते हैं। फल—सौंफ के समान होता है ॥ १८ ॥

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धि, उडनशील तथा हल्के पीले रङ का तैल २.५-४% पाया जाता है। इस तैल में क्युमिक अल्डिहाइड (Cumic aldehyde) की मात्रा ५२% तक होती है जिसके अन्दर कई रासायनिक पदार्थ होते हैं। इस तैल को कृत्रिम रूप से थाइमॉल (Thymol = अजवाइन का सत्व) में परिवर्तित किया जा सकता है जो अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) और कृमिघ्न पदार्थ है। इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तैल १०% एवं पेन्टोसान (Pentosan) ६.७% होता है।

गुण और प्रयोग—यह पाचक, वातानुलोमक, मूत्रविरजनीय, वेदनाहर, उत्तेजक एवं संग्राही है। इसका उपयोग वमन, अतिसार, कुपचन, आध्मान, ज्वर तथा मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोग जैसे सुजाक, पथरी एवं मूत्रावरोध में किया जाता है। बालकों के पाचन के विकारों में यह अधिक उपयोगी है।

(१) ज्वर में पाचन सुधरकर भूख बढ़ती है, पेशाब साफ होती है और दाह शांति होती है इसमें गुड के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये।

(२) अतिसार में दही के साथ इसको दिया जाता है। जीरकाधमोदक का उपयोग जीर्ण अतिसार, अपचन एवं अग्निमांशयदि रोगों में किया जाता है। गर्भिणी में पित्तजन्य वाति में नौबू के रस के साथ देने से लाभ होता है।

(३) सुजाक आदि में निम्न चूर्ण १० रत्ती की मात्रा में देने से लाभ होता है—जीरा ४, खनखरावा २, कलमीशोरा ५, धनियाँ ५ तथा गुलाब २ भाग।

- (४) प्रसूता को देने से दुग्ध वृद्धि होती है।
 (५) हिचकी में घृत के साथ इसका धूपपान बहुत उपयोगी है।
 (६) इसको स्वरभंग एवं सर्पविष में भी उपयोगी बतलाया गया है।
 (७) इसका बाह्यलेप पीडाहर है एवं यह अर्श, स्तन, अण्डकोष तथा उदर की पीड़ा पर लगाया जाता है और घृत, मधु एवं नमक के साथ बिच्छू के काटने पर लगाने से लाभ होता है। इसके काथ से स्नान करने से खुजली दूर होती है तथा इससे सिद्ध तैल का चर्मरोगों में उपयोग होता है।

मात्रा—३-२ माशा

२० कृष्ण जीरक

हि०—काला जीरा, स्या जीरा, स्याह जीरा, कृष्णजीरा। ब०—काल जीरें, कृष्णजीरा। म०—शहाजीरें, शाहाजीरें, कालेजीरे। गु०—स्याजीरं। क०—करिजीरके, करिजिरिगे। ते०—शिमइसपू। ता०—शिमह शोम्बु। मा०—स्याजीरो। चनाब०—गूंथं। फा०—सियाहजीरा, स्याहजीरा, जीरेस्याह, जीरेस्याह। अ०—कमूने किरमानी, कमून अस्वद। अं०—Black Caraway seed (ब्लक कारावे सीड)। ले०—*Carum carvi* Linn. (कैरम् कैरह)। Fam. Umbelliferae (अम्बेलिफेरी)। इसका धूप उत्तरी हिमालय के पहाड़ी भागों में उत्पन्न होता है। इसकी खेती भारत के मैदानी भागों में एवं काश्मीर, कुमाऊँ, गढ़वाल, चम्पा आदि पहाड़ी स्थानों में की जाती है। यह अफगानिस्तान एवं ईरान में भी होता है। यह १-२ फूट ऊँचा, शाखा-कोमल, हरित, पकांतर; पत्र-बहुविभक्त; पुष्प-इवेत, छात्राकार; फल-कुछ टेढ़ापन लिये लंबे, सुगंधि, भूरापन लिये हुये काले, करीब ७ मि० मि० तक लंबे एवं २ मि० मि० चौड़े एवं दोनों सिरों पर नोकाले होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल ३.१-७% पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोकक और स्तन्यजनन है। आध्मान, उदर-शूल, अतिसार, अपचन, जीर्णज्वर आदि में इसका उपयोग किया जाता है। प्रसूतिकाल में दूध बढ़ाने के लिए इसको देते हैं। यूरोप में इसको शान्तिदायक, मस्तिष्क के लिए उत्तेजक और अप-तंत्रक में उपयोगी मानते हैं।

- (१) इसके तैल का उपयोग अन्य औषधियों को सुगन्धित करने के लिए एवं उनसे उत्पन्न हृत्तास और मरोड़ को दूर करने के लिए किया जाता है।
 (२) इसके अर्क का उपयोग बच्चों का पेट फूलना, शूल आदि में अनुपान के रूप में किया जाता है।
 (३) अर्श में सूजन हो तो इसके काथ से सेकने से लाभ होता एवं गर्भाशय की पीडा में स्त्री को इसके क्वाथ में बैठते हैं।

मात्रा—३-२ माशा।

नोट—एक अन्य प्रकार के जीरक का वर्णन जिसे संस्कृत में अरण्याजीरक और लैटिन में वर्नोनिया अन्थेलमिन्टिका; कॉम्पोसिटी (*Vernonia anthelmintica* Willd; Fam. Compositae) कहते हैं, परिशिष्ट में देखें।

२१ कालाजाजी (कलौजी)

हि०—कलौजी, कलंजी, कलौजी, मंगरैला, मंगरैल, मंगरैला। ब०—मोटा कालेजीरे, मोटकालेजीरे। म०—कलौजी जीरें, कालेजीरे। गु०—कलौजी जीरं। क०—करि जीरिगे। ते०—नलजील कारा।

फा०—स्याहदाना। अ०—हब्बतुस्सोदा, शोनिडा। अं०—Black cumin (ब्लक कुमुनिन्), Small fennel (स्मॉल फेनेल), Nigella seed (निगेला सीड)। ले०—*Nigella sativa* Linn. (निगेला सॉटिवा, लिन.)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्कुलेसी)।

कलौजी हमारे देश का सर्वप्रसिद्ध एक गरम मसाला है। यह प्रायः पूर्व के प्रान्तों में एवं बिहार और पञ्जाब में अधिक बोई जाती है। दक्षिणी यूरोप तथा सीरिया में भी यह उत्पन्न होती है। इसका धूप छोटा, पत्ते लम्बे तथा कटे हुए, फूल-हलके नीले रंग के और फलियाँ ३ इंच लम्बी होती हैं। बीज-त्रिकोणाकार, तिल के समान पर तिल से किञ्चित् मोटे और अत्यन्त काले रङ्ग के होते हैं। इसका गूदा सफेद होता है और इसमें तीव्र गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें पीले रंग का उड़नशील तैल ०.५-१.४%, स्थिर तैल ३७.५%, राल, जल्क्यूमिन, शर्करा, गोंद, टैनिन, ग्लूकोसाइड, मेलाथिन, मेलाथ्येजेनिन (१%) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धित, वातानुलोकक, दीपन, पाचन, गर्भाशय शुद्धिकर, स्तन्य-वर्धक, स्वेदल एवं क्षुभिघ्न है। इसका उत्सर्ग त्वचा, वृक्क एवं स्तन द्वारा होता है तथा इनके स्रावों की वृद्धि होती है। अधिक मात्रा में इसके सेवन से शरीर की उष्णता बढ़ती है, नाडी की गति बढ़ती है तथा साथ ही साथ गर्भाशय संकोच होकर गर्भपात की भी संभावना रहती है।

सूतिका में इसका उपयोग चित्रकमूल के साथ करने से भूख बढ़ती है, पाचन ठीक होता है, गर्भाशय शुद्ध होता है तथा दूध भी बढ़ता है। पीडितार्तव वा नष्टार्तव में यह उपयोगी है। सूतिका ज्वर तथा विषमज्वर में इसका उपयोग किया जाता है। अग्निमांश, कुपचन तथा आध्मान आदि में अन्य औषधियों के साथ इसका प्रयोग लाभदायक है। हिचकी में मट्टे के साथ देने से लाभ होता है। विरेचक औषधियों के साथ इसके उपयोग से मरोड़ नहीं होने पाती। यह मसाले के रूप में भी व्यवहार में आता है। इसका लेप हाथ और पैरों की सूजन पर करने से दर्द दूर होकर सूजन कम होती है। त्वक् रोगों में इससे सिद्ध तैल का व्यवहार करते हैं तथा इसका आंतरिक प्रयोग भी करते हैं।

मात्रा—३-२ माशा। हानिकर—गर्भिणी के लिये।

अथ धान्यकस्य नामानि गुणाश्चाह

धान्यकं धानकं धान्यं धाना धानेयकं तथा। कुनटी धेनुका छत्रा कुस्तुम्बुरु वितुषकम् ॥८९॥
 धान्यकं तुवरं स्निग्धमदृष्यं मूत्रलं लघु। तिक्तं कटुष्णवीर्यञ्च दीपनं पाचनं स्मृतम् ॥९०॥
 ज्वरञ्च रोचकं प्राहि स्वादुपाकि त्रिदोषनुत्। तृष्णादाहवमिथासकासकार्श्यं क्रिमिप्रणुत् ॥९१॥
 आर्द्रन्तु तद्गुणं स्वादु विशेषारिपचनाशनम् ॥९२॥

धनियाँ के नाम तथा गुण—धान्यक, धानक, धान्य, धाना, धानेयक, कुनटी, धेनुका, छत्रा, कुस्तुम्बुरु और वितुषक ये सब 'धनियाँ' के नाम हैं। धनियाँ—कषायरसयुक्त, स्निग्ध, अवृष्य, मूत्रजनक, लघु, तिक्त तथा कटुरस युक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, पाचक, ज्वरनाशक, रोचक, प्राही, परिपाक में मधुररसयुक्त, त्रिदोष को दूर करने वाली, तृष्णा (प्यास), दाह, वमन, श्वास, कास, कृशता तथा कुमिरोग का नाश करने वाली है। कच्ची धनियाँ के भी गुण

'धनियाँ' ही के समान हैं किन्तु विशेषता यह है कि यह मधुर रस युक्त तथा पित्त की विशेष रूप से नाशक होती है ॥ ८६-८८ ॥

२२ धनियाँ

हि०—धनियाँ। ब०—धने। म०—धने। कोथिबीर, धणे। गु०—धाना, धाणा, कोथमीर। क०—कोथुंबुरी, कोथम्बरी, हविज। ते०—कोत्तिमिरि, धनियलु। ता०—कोटमल्लि, कोतमल्ली। सिन्ध०—धानु। फा०—कश्मीज। अ०—कज्जुरा, कज्जुरह। अं०—Coriander fruit (कोरि-अण्डर फ्रूट)। ले०—*Coriandrum sativum* Linn. (कोरिएण्ड्रम् सैटिवम् लिन)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में एवं विदेशों में भी इसकी उपज की जाती है।

इसका पौधा १-२ फुट ऊँचा, शाखायें—चिकनी, पत्ते—विषमदन्ती, जड़ के निकटवाले पत्ते गोलाकार, ३-४ या ५ भागों में विभक्त, प्रत्येक भाग कटे किनारे वाले और कँगुरेदार तथा शाखाओं के पत्ते सोआ, चनसुल आदि के पत्तों के समान होते हैं। फूल—छत्ते से सोया के फूल के समान सफेद या किञ्चित् गुलाबी रंग के आते हैं। फल—नन्हें नन्हें, अण्डाकार, गुच्छों में छत्राकार लगते हैं। सूखने पर वे दो टुकड़े होकर धनिये के नाम से विकते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक उड़नशील तैल ०.५-१% तक पाया जाता है जिसमें ४५-५५% कोरिएण्ड्रॉल (Coriandrol, $C_{15}H_{18}O$) तथा कुछ अन्य पदार्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तैल १३%, वसीय पदार्थ १३%, गोंद, टैनिन, मॅल्लिक एसिड तथा राख ५% आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—धनियाँ मूत्रल, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, संग्राही, दाहशामक एवं पिपासाघ्न है।

इसका उपयोग नेत्र रोग, ज्वरजन्यदाह, वमन, अतिसार, आमार्जर्ण, आध्मान, शूल आदि में किया जाता है। मसाले के रूप में, अनेक औषधियों को सुगन्धित करने के लिए तथा विरेचक औषधियाँ जैसे सनाय रेवाचीनी आदि से मरोड न हो इसलिए इसका व्यवहार किया जाता है।

(१) ज्वर में दाह एवं प्यास की शान्ति के लिए इसका शीत कषाय मिश्री तथा मधु मिलाकर पिलाते हैं।

(२) नेत्राभिव्यन्द में इसके काथ को छानकर नेत्र विन्दु के रूप में डालने से लाभ होता है। पहले एरण्ड तैल डालकर फिर इसका प्रयोग करना चाहिये। शीतला में आँख धोने के लिये इसके जल का व्यवहार किया जाता है जिससे उत्तरकालीन नेत्राभिव्यन्द एवं नेत्रव्रण आदि उपद्रवों का प्रतिषेध होता है।

(३) इसके तैल का व्यवहार वातनाडो शूल एवं जोड़ों के दर्द में करते हैं तथा बच्चों के आध्मान जन्य शूल में १-४ बूँद मिश्री के साथ देते हैं।

(४) कच्ची धनियाँ का लेप सरदर्द तथा भिलावे से उत्पन्न दाह पर किया जाता है।

(५) पुराने घाव, सूजन तथा थिपैले फोड़ों पर यवके आटे के साथ इसकी पुष्टि उपयोगी है।

(६) इसके काथ में मिश्री मिलाकर रक्तार्श में देने से लाभ होता है।

(७) क्षोभशामक होने के कारण धनियाँ के शीत कषाय का उपयोग अनुपान या सहपान के रूप में स्वप्नमेह एवं श्वेतप्रदर में किया जाता है।

(८) जीर्ण प्रतिश्याय में धनियाँ का फाण्ट या बीजों का चूर्ण मिश्री के साथ प्रयुक्त होता है।

मात्रा—३ - ४ माशा।

अधिक मात्रा में सेवन से कामशक्ति का हास तथा स्त्रियों में मासिक धर्म रुक जाता है।
वर्षनाशक—मधु, दालचीनी और अण्डा।

अथ शतपुष्पामिश्रेययोर्नामानि गुणांश्चाह

शतपुष्पा शताह्ना च मधुरा कारवी मिसिः। अतिलम्बी सितच्छत्रा संहितच्छत्रिकाऽपि च ॥
छत्रा शालेयशालीनी मिश्रेया मधुरा मिसिः। शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः ॥
उष्णा उन्नानिलरलेष्मन्नशूलाक्षिरोगहृत्। मिश्रेया तद्गुणा प्रोक्ता विशेषाद्यो निशूलनुत् ॥
अग्निमान्यहरी हृष्टा वद्धविट्कृमिशुक्लहृत्। रूक्षोष्णा पाचनी कासवमिश्लेष्मानिलाहरेत् ॥

सोया और सौंफ के नाम तथा गुण—शतपुष्पा, शताह्ना, मधुरा, कारवी, मिसि, अतिलम्बी, सितच्छत्रा तथा संहितच्छत्रिका ये नाम सोये के हैं और छत्रा, शालेय, शालीन, मिश्रेया, मधुरा और मिसि ये सब नाम सौंफ के हैं। सोया—परिपाक में लघु, तीक्ष्ण, पित्तकारक, अग्निदीपक, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य तथा उ्वर, वातश्लेष्म, व्रण, शूल और नेत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली है और सौंफ के भी सोये के समान ही गुण हैं किन्तु विशेष करके यह योनिस्म्बन्धी शूल को दूर करने वाली, अग्नि की मन्दता को नाश करने वाली, हृदय के लिये हितकारक, मल की विषदता को दूर करने वाली, कृमि तथा शुक्र का नाश करने वाली, रूक्ष, उष्णवीर्य पाचक एवं कास, वमन, शफ तथा वायु को दूर करने वाली होती है ॥ ८९-९२ ॥

२३ सोआ

हि०—सोआ, सोआ, सोआ, बनसौंफ। ब०—शुल्फा, शुल्फा। प०—सोया। म०—वालंत शोप, शेपु। क०—सवधसिगे। गु०—शुवा। ते०—पुशतकुपिधिट्टुल, सोम्पा। मा०—सोवा, सुवा। ता०—शतकुप्पी धिरद। अं०—Indian dill fruit (इन्डियन डिल फ्रूट)। ले०—*Anethum sowa* Kurz (अनेथम् सोवा)। *Peucedanum graveolens* Linn. (प्यूसिडॅनम् ग्रैवियोलॅन्स लिन) Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

यूरोपीय जाति प्यूसिडॅनम् ग्रैवियोलॅन्स (*Peucedanum graveolens*) से भारतीय जाति में कुछ अन्तर होने के कारण भारतीय जाति को अनेथम सोवा (*Anethum sowa*) कहते हैं।

इस देश के सब प्रान्तों में विशेषकर गरम और शीत गरम प्रान्तों में इसकी खेती शीत ऋतु में की जाती है।

यह क्षुप जाति की वनस्पति १-३ फुट तक ऊँची होती है। पत्ते—कई भागों में विभक्त, वारीक और अत्यन्त कोमल होते हैं। फूल—छत्राकार किञ्चित् पीले रंग के होते हैं। फल—अंडाकार, थिपटे, उन्नतोदर, किनारे पर सफुएँ एवं प्रायः दोनों अर्धखण्ड मिले हुवे तथा आधार पर पतला षण्ठल लगा रहता है। ये विदेशी बीजों से कम चौड़े तथा अधिक उन्नतोदर और इनके पृष्ठ भाग की धारियाँ हलके रंग की होती हैं।

१. 'संहिते'ति पाठा०।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में ३-३.५% एक उड़नशील तैल पाया जाता है। इस तैल में डिल एपिओल (Dill-apiole, $C_{12}H_{14}O_4$) नामक एक तैलीय पदार्थ रहता है जो पारस्ले एपिओल (Parsley apiole, $C_{12}H_{14}O_4$) के सदृश होते हुवे भी गुणों में उससे पृथक् (Isomeric = आइसोमैरिक) रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें एक तरल हाइड्रोकार्बन अनीथेन् (Hydrocarbon-anethene, $C_{10}H_{16}$) और कारवोन (Carvone) सदृश पदार्थ रहता है। विदेशी और भारतीय तैल में थोड़ा अन्तर होता है।

गुण और प्रयोग—सोआ द्रोपन, पाचन, वातानुलोमक, सुगन्धि, उत्तेजक, वातहर, गर्भाशय उत्तेजक एवं दुग्धवर्धक है।

बालकों के पचन विकारों में, विशेषकर आध्मान एवं शूल में चूने के जल के साथ इसके अर्क का बहुत व्यवहार किया जाता है। प्रसूता में भी वमन, अजीर्ण, हिक्का, आध्मान, शूल तथा दुग्ध वृद्धि आदि के लिये इसके काथ का प्रयोग किया जाता है। अनार्तव में भी इसका प्रयोग करते हैं। केस और म्दसकर के मतानुसार अंकुश कृमि (Hookworm) में यह उपयोगी है।

(१) अतिसार में मेथी और सोआ धी में भूनकर देते हैं।

(२) इसके पत्तों को तैल लगा कर गरम करके फोड़े फुन्सियों पर बांधने से वे जल्दी पक जाते हैं।

(३) इसके पत्ते तथा मूल को पीसकर जोड़ों की सूजन पर बांधने से लाभ होता है।

(४) विरेचक औषधियों के साथ इसके तैल या अर्क के व्यवहार से मरोड़ नहीं होती।

(५) चरक की राजयक्ष्मा की चिकित्सा में पार्श्वशूलहर लेप में इसका उल्लेख है।

मात्रा—फल चूर्ण—१-४ माशा, तैल—१-३ बूंद, अर्क—३-१ औंस।

संकेन्द्रित जल (अंका कन्सन्ट्रेट = Aqua Concentrata)—५-१५ बूंद।

२४ सौंफ

हि०—सौंफ, बड़ी सौंफ, सडक। **ब०**—मौरी, पान मौरी। **म०**—बड़ी शोफले **गु०**—बरीआली, बलीयारी। **क०**—बड़ी सोपु, सब्बसिंगे। **मा०**—सौंफ। **प०**—सौंफ। **ते**—सोपु, पेहजिलकुरा। **ता०**—सोहिकिरे, शोम्बु। **फा०**—राजयानज, राजयाना, बादियां, बादियान, राजियानह। **अ०**—एजियानज, असलुल एजियानज, राजियाज। **अं०**—Fennel Fruit (फेन्नेल फ्रूट)। **ले०**—*Foeniculum vulgare Mill.* (फिनिक्यूलम् वलगेरि); **Syr.**—*Anethum foeniculum* (एनेथम् फिनिक्यूलम्)। **Fam.** Umbelliferae (अंबेलिफेरो)।

प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में यह बोई जाती है।

इसका चुप लम्बा, पत्ते-कई भागों में विभक्त सोये के पत्तों के समान, फूल-छत्राकार किञ्चित् पीले रंग के और फल-६ से ७ मि. मि. लम्बे, ४ मि. मि. चौड़े, आयताकार, प्रायः अखण्डित एवं डंठल युक्त होते हैं। नये बीज हरे रंग के और पुराने होने पर पीलापन युक्त हो जाते हैं। जिन फलों का तैल निकाल लिया जाता है उनमें तैल की मात्रा कम हो जाती है और उनकी गन्ध भी कम होती है तथा वे अधिक गहरे रंग के हो जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल १-२.९% और स्थिर तैल ८.८-१५.८% रहता है। इस उड़नशील तैल में एनीथॉल (Anethol) ६०% तथा फेनकोन् (Fenchone)

आदि कुछ अन्य पदार्थ रहते हैं। विदेशी सौंफ की अपेक्षा भारतीय सौंफ में इस तैल की मात्रा कम रहती है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, दाहप्रशमन एवं मूत्रविर-जनीय है।

इसका उपयोग विशेषरूप से मसाले के रूप में एवं मादक पेयों में सुगन्धि के लिये किया जाता है। इसका अर्क बच्चों को पाचन के विकार जैसे आध्मान, शूल आदि में दिया जाता है और अन्य औषधियों के असुपान के रूप में भी व्यवहार करते हैं। इसका व्यवहार आमातिसार, अजीर्ण, आध्मान, ज्वर, खांसी, श्वास, वृक्करोग, प्लोहा वृद्धि, अनार्तव तथा दृष्टिमांस आदि रोगों में किया जाता है।

(१) इसको पीसकर पीने से पेशाब की जलन दूर होकर पेशाब साफ होती है।

(२) सूखी खांसी और मुख के विकारों में इसे मुख में रखने से लाभ होता है।

(३) इसके पत्र सुगन्धि, मूत्रल और स्वेदजनक होते हैं।

(४) इसका मूल विरेचक होता है।

(५) इसके फलों को पीसकर लेप करने से गर्मी के दिनों में होने वाला चक्र तथा शिरःशूल दूर होता है।

(६) आध्मान में इसके काथ से बस्ति देने से लाभ होता है।

मात्रा—४ रत्ती से २ माशा तक।

नोट—एक अन्य प्रकार की सौंफ जिसे 'बदिद्याण' (*Pimpinella anisum Linn.* पिंपिनेहा एनिसम्) कहते हैं उसका वर्णन परिशिष्ट में देखें।

अथ मेथीवनमेथीनामगुणानाह

'मेथिकामेथिनी मेथी दीपनी बहुपत्रिका। बोधिनी बहुबीजा च ज्योतिर्गन्धकला तथा। वल्लरी चन्द्रिका मन्था मिश्रपुष्पा च कैरवी। कुञ्जिका बहुपर्णी च पीतबीजा मुनिच्छदा ॥ मेथिका वातशमनी श्लेष्मघ्नीऽधरनाशिनी। ततः स्वल्पगुणावन्था वाजिनां सा तु पूजिता ॥

मेथी तथा वनमेथी के नाम तथा गुण—मेथिका, मेथिनी, मेथी, दीपनी, बहुपत्रिका, बोधिनी, बहुबीजा, ज्योतिः, गन्धफला, वल्लरी, चन्द्रिका, मन्था मिश्रपुष्पा, कैरवी, कुञ्जिका, बहुपर्णी, पीतबीजा और मुनिच्छदा ये सब नाम मेथी के हैं। मेथी-वायु को शमन करने वाली, कफ को दूर करने वाली तथा ज्वर को नष्ट करने वाली है और वनमेथी-मेथी की अपेक्षा कम गुण वाली होती है, किन्तु वह घोंड़ों के लिये अत्यन्त उत्तम (हितकर) होती है ॥ ९३-९५ ॥

२५ मेथी

हि०—मेथी। **पं०**—बं०—म०—गु०—मेथी। **ते०**—मेंडुल, मेंतुल, मेंति। **ता०**—वण्डयम्, वैडयम्, वेन्दयम्। **क०**—मेंत्रे। **मल**—उल्लव। **फा०**—तुल्मशमलीत। **अ०**—बजरल हुल्वा, वजरलहुल्बह, डुलबह।

१. 'मिथिनी'ति पाठा०।

२. 'जासी'ति पाठा०।

३. 'पित्तजिद्रायुनुद्विधे'ति पाठा०।

४. 'बल्येति पाठा०।

अं०—Fenugreek (फेनुग्रीक)। ले०—*Trigonella foenumgraecum* Linn. (द्राक्षगोनेरला फोएनम ग्रेकम)। Papilionaceae (पॅपिलिओनेसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है परन्तु पञ्जाब और काश्मीर में यह आपही आप जङ्गल में उत्पन्न होती है।

इसका छुप ६ इञ्च से १६-१७ इञ्च तक ऊँचा होता है। पत्ते संयुक्त एवं प्रत्येक सीक पर तीन तीन पत्रक रहते हैं और वे आध से एक इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार और बारीक कंगुरेदार होते हैं। फूल-नन्हें नन्हें हलके पीत रङ्ग के आते हैं। फलियाँ-गोल २-३ इञ्च लम्बी कुछ देड़ी सी नोकदार रहती हैं। प्रत्येक से १०-२० पीले रङ्ग के दाने निकलते हैं। इन्हीं का चिकित्सा में अधिक उपयोग करते हैं।

रासायनिक सङ्गठन—इसके सूखे पञ्चाङ्ग में प्रोटीन (Protein) की मात्रा १६% रहती है जिसमें से इसके ग्लोब्यूलिन (Globulin) में हिस्टीडोन् (Histidine) की काफी मात्रा रहती है। इसके अल्ब्यूमिन् (Albumin) भाग में फॉस्फोरस (Phosphorus) तथा गन्धक रहता है।

इसके बीजों में ट्रिगोनेलिन (Trigonelline, C₇ H₇ O₂ N), कोलीन (Choline) आदि क्षाराम, एक पीत रङ्गक पदार्थ, स्थिरतैल ६%, प्रोटीन २२% तथा गोंद २८% रहता है। बीजों को जलाने से इसमें ७% राख निकलती है जिसमें से ३ फॉस्फोरिक एसिड (Phosphoric acid) रहता है। इसके बीजों में फॉस्फेट्स (Phosphates), लेसिथिन् (Lecithin) और न्यूक्लियो अल्ब्यूमिन् (Nucleo-albumin) रहने के कारण ये कॉडलिवर ऑइल (Cod-liver oil) के समान पोषक तथा बलकारक होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके बीज स्निग्ध, सुगन्धि, वातानुलोमक, अग्निदीपक, आध्मानहर, बल्य, वृष्य, वातहर, गर्भाशय सङ्कोचक, दुग्ध वृद्धिकर एवं शोथघ्न होते हैं। इसके पत्र शीतल, दाहशामक, शोथहर एवं मृदु विरेचक होते हैं।

(१) इसके बीजों से बनाये लड्डू का व्यवहार प्रसूता में किया जाता है जिससे भूख बढ़ती है, मल शुद्धि और आर्तवशुद्धि होती है। अजीर्ण, अग्निमांघ, आमवात, एवं कामशक्ति की कमजोरी में भी ये उपयोगी हैं।

(२) रक्तातिसार एवं मसूरिका में इसके बीज भूँनकर और फिर उसका फाँट बनाकर देते हैं।

(३) शरीर को पीड़ा में इसके बीजों को ३-१ तोला की मात्रा में खिलाने से लाभ होता है।

(४) दुग्ध वृद्धि के लिये इसकी लप्सी बनाकर प्रसूता को दी जाती है।

(५) धी में मुने हुये मेथी के बीज, बादियाण और नमक का व्यवहार अतिसार रोकने के लिये करते हैं।

(६) इसके बीजों को कॉडलिवर आइल के स्थान पर दे सकते हैं और इसका व्यवहार गण्डमाला, फक्कुरोग, पाण्डु, वातरक्त, मधुमेह और औपसर्गिक रोगजन्य दीर्बल्य में किया जाता है।

(७) मिस्र में ज्वर रोकने के लिये इसको अङ्कुरित करके खिलते हैं। मधुमेह में भी इससे लाभ होता है।

(८) चर्मको मुलायम और स्वच्छ रखने के लिये इसके बीजों का उपयोग किया जाता है। बालों के झड़ने पर तथा सूजन पर इसका लेप उपयोगी है। दूधप्रदर में इसकी पिसरी को धारण कराया जाता है।

(९) इसके पत्तों का भी लेप सूजन एवं दाह में किया जाता है। लू लगने में इसके पत्तों को पीसकर शरीर पर मलते हैं तथा आन्तरिक व्यवहार भी करते हैं जिससे दाह की शान्ति होती है। अल्पमूल्य में बल्य एवं पोषक होने के कारण पशुओं को भी खिलायी जाती है।

मात्रा—चूर्ण ३-५ तोला।

२६ बनमेथी

हि०—बनमेथी, जङ्गली मेथी। पं०—सिंजी। सिन्ध—जिर। अ०—अकूलि-उल्-मलिका। अं०—Sweet-cloves (स्वीट क्लोव्स)। ले०—*Melilotus parviflora* Desf. मेलिलोटस पार्विफ्लोरा; Syn.—*Trifolium indicum* Linn. (ट्रिफोलियम इण्डिकम)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

पश्चिम प्रायद्वीप, बंगाल और उत्तरप्रदेश आदि स्थानों में यह आप ही आप उत्पन्न होती है।

इसका छुप—३० से ४५ मि० मि० ऊँचा तथा वर्षायु होता है। पत्र—संयुक्त तथा त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक—१२ से १६ × ८ से १० मि० मि०, दन्तुर, अर्धमालाकार या अर्ध अंडाकार होते हैं। पुष्प—सूक्ष्म, पीतवर्ण की मंजरियों में आते हैं। फली—दीर्घवृत्ताकार, दबी हुई, दोनों छोर पर पतली एवं २.५ मि० मि० लंबे एक बीज युक्त होती है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज ग्राही होते हैं तथा उदरशूल, अतिसार और आंत्र के विकारों में लाभदायक है। इसका व्यवहार कष्टार्तव, आमवात, गण्डमाला आदि में तथा रक्त शुद्धि के लिये किया जाता है। बच्चों के अतिसार में इसकी लप्सी का व्यवहार करते हैं।

अथ चन्द्रशूरस्य नामानि गुणान्वाह

चन्द्रिका चर्महन्त्री च पशुमेहनकारिका। नन्दिनी कारवी भद्रा वासपुष्पा सुवासरा ॥१९॥
चन्द्रशूरं हितं हिक्कावातरक्षेष्मातिसारिणाम्। असृग्वातगद्वेष्टि बलपुष्टिवर्द्धनम् ॥१७॥

चनसूर के नाम तथा गुण—चन्द्रिका, चर्महन्त्री, पशुमेहनकारिका, नन्दिनी, कारवी, भद्रा, वासपुष्पा और सुवासरा ये नाम चनसूर के हैं। चनसूर—हिचकी, वात-इलेष्मा और अतिसार ग्रस्त रोगी तथा रक्तवातग्रस्त रोगियों के लिए हितकर है और बल तथा पुष्टिवर्धक भी है ॥१६-१७॥

२७ चन्द्रिका (हालों)

हि०—हालों, हालिम, चनसूर, चन्द्रशूर। बं०—हालिम, हालिमा, हालो, चान्सूर, अलेवेरी। म०—आलीव, हलिम, अहालीव। गु०—अशेलीओ, अशेरिया, आशाल बीज। यू०—तरम राह के बीज। फा०—गुल्म तरह तेजक। अ०—बाजरुज्जरजीर। कुमा०—हालिम। ता०—अलिविरह। ले०—अदित यलु। प०—तेजक। सि०—अहेरी। क०—अलिवीज। अं०—Common Cress (कॉमनक्रेस)। ले०—*Lepidium sativum* Linn. (लेपिडियम सेटिवम) Fam. Cruciferae (क्रुसिफेरी)।

यह सब प्रान्तों में बोया जाता है। इसका छुप—१ से ३ फीट ऊँचा, मसूण या कुछ रोंपदार होता है। पत्ते—विभक्त होते हैं। पुष्प—सफेद तथा छोटे होते हैं। फल—०.२ इञ्च, त्रिपदे,

जण्डाकार परन्तु अग्र पर भीतर की तरफ दबे हुये रहते हैं। बीज—छोटे, लाल तथा जल में डालने पर बुझावदार होते हैं। अधिकतर इसके बीजों का उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक सुगन्धि उद्वनशील तथा स्थिर तैल पाया जाता है। इसमें आयोडीन (Iodine), लोह, फॉस्फेटस् (Phosphates), पोटैश (Potash), कुछ लवण, एक तिक्त सत्व एवं जल आदि पदार्थ रहते हैं तथा गन्धक अधिक मात्रा में रहता है। इसके ग्लुकोसाइड (Glucoside) को ग्लुकोट्रोपोइओलिन (Glucotro-poeolin) कहते हैं।

गुण और प्रयोग—चनसुर रसायन, बल्य, वाजीकर, उत्तेजक, आनुलोमिक, दुग्धवर्धक एवं शूलहर है। इसका उपयोग प्रसूतावस्था, रक्तदोष, त्वचा के रोग, नेत्र रोग, यकृत और प्लीहा की जीर्ण वृद्धि, ग्रन्थिरोग, रक्तार्श, श्वास, कास एवं अतिसार आदि में किया जाता है।

(१) इसके फांट का व्यवहार आमाशय के प्रक्षोभ से उत्पन्न हिक्का में किया जाता है। इसको बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पिलाना चाहिये। इसी प्रकार प्रक्षोभजन्य अतिसार एवं ग्रहणी में भी इससे लाभ होता है।

(२) गरी के साथ इसका बर्फी या दूध में लपसी बनाकर प्रसूता को दिया जाता है। यह रसायन, पौष्टिक तथा दुग्धवर्धक है। इससे कटिशूल एवं श्वेतप्रदर में भी लाभ होता है। दूध में उबाल कर गर्भपात कराने के लिए प्रयोग में लाते हैं। पुरुषों के लिए भी यह रसायन तथा वाजीकर है एवं इसका व्यवहार शरीर की ऊँचाई बढ़ाने के लिए करते हैं।

(३) मिथी के साथ इसका चूर्ण कुपचन, अतिसार एवं ग्रहणी आदि में देते हैं।

(४) नींबू के रस में पीसकर इसका लेप कटिशूल, आन्तरिक शोथ, आमवात तथा सन्धिशूल आदि में करते हैं।

(५) इसके पत्र मूत्रल तथा उत्तेजक होते हैं एवं इनका सलाद प्रशीताद (Sourvy = रकवी) नामक रोग में व्यवहार में लाया जाता है।

(६) इसकी जड़ का व्यवहार फिरङ्ग तथा निस्तानिका (Tenesimus = टेनेस्यस) में किया जाता है।

मात्रा—३-१ तो०।

अथ चतुर्बीजगुणानाह

मेथिका चन्द्रशूरश्च कालाऽजाजी यवानिका । एतच्चतुष्टयं युक्तं चतुर्बीजमिति स्मृतम् ॥१८॥
तच्चूर्णं भक्षितं नित्यं निहन्ति पवनामयम् । अजीर्णं शूलमाध्मानं पार्श्वशूलं कटिविषयम् ॥

‘चतुर्बीज’ (चारदाना) के गुण—मेथी, चनसुर, मंगरेला और अजवाइन इन चारों के बीजों के योग को ‘चतुर्बीज’ (चारदाना) कहते हैं और इस चतुर्बीज का चूर्ण बनाकर नित्य खाने से वात सम्बन्धी रोग, अजीर्ण, शूल, अध्मान, पार्श्वशूल और कमर का दर्द दूर होता है ॥ १८-१९ ॥

अथ हिगुनामगुणानाह

सहस्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिङ्गु रामठम् ॥ १०० ॥

हिङ्गुणं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातवलासनुत् । शूलगुहमोदराहाहृमिध्नं पित्तवर्धनम् ॥

१. ‘द्वि’ति पा० ।

हींग के नाम तथा गुण—सहस्रवेधि, जतुक, बाह्लीक, हिङ्गु और रामठ ये सब नाम हींग के हैं। हींग उष्णवीर्य, पाचक, रुचिकारक, तीक्ष्ण, वात-श्लेष्म को दूर करने वाला, शूल, गुल्म, उदर सम्बन्धी रोग, आनाह (अफरा) और कृमियों को नष्ट करनेवाला एवम् पित्त को बढ़ाने वाला होता है ॥ १००-१०१ ॥

२८ हींग

हि०—हींग। च०—हिगु। पं०—हिगे, हींग। म०—हिग। मा०—हींग। गु०—हिगडो, चधारणी, हिग बधारणी। ते०—इङ्गुव, इगुर, इगुर। ता०—पेरुगियम्, पेरुग्वम्। क०—हिगु। फा०—अंगुजह, अंगुजा, अंगुजेह-इलरी। अ०—हिल तीत्, हिलतीस। अ०—Asafoetida (असेफीटिडा)। ले०—*Ferula narthex*, Boiss. (फेरुला नार्थेक्स, बॉयस.); *F. alliacea* Boiss. (फे. एल्लिएसिया); *Ferula foetida* Regel (फेरुला फोेटिडा)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

हींग सर्व प्रसिद्ध वस्तु एक विदेशीय वृक्ष का निर्यास है। इसकी उपयुक्त कई जातियाँ विभिन्न स्थानों पर होती हैं जिनसे कुछ कुछ भिन्न प्रकार का निर्यास प्राप्त किया जाता है। अधिकांश मिलावटी हींग विकती है। इनमें चोखी हींग, हीरा हींग, तलाव हींग इत्यादि अच्छी समझी जाती हैं। जो हींग रूमी मस्तगी के समान वर्ण वाली, गरम धी में डालने से लाबा के समान खिल जाने वाली तथा लालिमा लिये भूरे या बादामी रंग की हो वह अच्छी मानी जाती है। उत्तम हींग की डली को तोड़ने से वह भाग बादामी रंग का दिखाई पड़ता है। इसका स्वाद कड़वा और लहसुन के समान खराशदार तथा इसकी गन्ध लहसुन के समान तीव्र होती है। पानी में धोखने से सफेद रंग की दीखाई पड़ती है।

हींग के वृक्ष काबुल, हिरात, खुरासान, फारस एवं अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में उत्पन्न होते हैं तथा इस देश के पंजाब और काश्मीर में कहीं कहीं देखने में आते हैं। विभिन्न जातियों में थोड़ा बहुत स्वरूप में अंतर होता है।

इसका वृक्ष झाड़ के समान छोटा, ५ से ८-९ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते अनेक भागों में विभक्त, अजमोदे के पत्तों के समान कटे किनारे वाले एवं १-२ फुट लम्बे होते हैं तथा टहनियों के अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। फल-तिहाई से तीन चौथाई इंच के घेरे में अण्डाकार होते हैं।

चार वर्ष का वृक्ष होने पर इसको काटते हैं और भूमि के पास वाली जड़ को तिरछे तराशने से जो रस निकल कर सूख जाता है उसको दो दिन के बाद खुरच कर संग्रह कर लेते हैं। फिर दो दिन के बाद जड़ को उसी प्रकार ऊपर से तराश कर छोड़ देते हैं और सूखने पर खुरच कर इकट्ठा कर लेते हैं। यहाँ सूखा हुआ पदार्थ हींग है। प्रत्येक वृक्ष से २-३ छटाक से ५-६ छटाक तक हींग मिल सकती है। देशी हींग की अपेक्षा काबुली हींग अच्छी होती है।

साधारण परीक्षा—(१) जल के साथ घोटने से इसका पीताम दुधिया धील बनता है जो क्षार मिलाने पर हरिताम पीत हो जाता है।

(२) थोड़े हींग को गन्धक के तेजाब के साथ गरम करने पर लाल से भूरे रंग का धोल बनता है। इस धोल को अधिक जल से विरल बनाकर (Dilute), छानकर (filtering) उसको क्षारीय करने से एक गाढ़े नीले रंग की चमक उत्पन्न होती है (Purple-blue fluorescence)।

मिलावटें—हींग में कड़कड़, बाख, मिट्टी, मूल के टुकड़े, गोदन्ती तथा गोंद आदि मिलाये रहते हैं।

रासायनिक संगठन—यह गन्धक का सेन्द्रिय योग है। इसमें लहसुन में पाये जाने वाला एक उड़नशील तैल ६-१७% रहता है। इस तैल में टरपेन्स (Terpenes), डाइसल्फाइड्स (Disulphides, $C_7H_{14}S_2$ and $C_{11}H_{20}S_2$) और एक नीले रंग का तरल पदार्थ $C_{10}H_{16}O$ रहता है। इसमें राख ४०-६५% रहती है जिसमें असासेसिनोटैनाल (Asaresinotannol), असासेसिनोल फेरुलिक एसिड इस्टर (Asaresinol ferulic acid ester) तथा फ्री फेरुलिक एसिड (Free ferulic acid-1.3%) रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें गोंद की मात्रा २५% रहती है। शुद्ध हींग में ६५-७५% मससार में घुलने वाले पदार्थ रहते हैं तथा राख ३-५% रहती है। इसकी राख का ऊर्ध्व पातन (Dry distillation) करने से उम्बेलिफेरोन् (Umbelliferone) प्राप्त होता है लेकिन भारतीय जाति से यह प्राप्त नहीं होता।

गुण और प्रयोग—हींग दीपन, पाचन, वातानुलोमक, उद्वेघन निरोधि, उत्तेजक, कफदुर्गन्धि हर, कफनिःसारक, वातनाडियों के लिये बल्य, गर्भाशयसंकोचक पत्रं कुम्भिन है। इसका उत्सर्ग फुफ्फुस, त्वचा, मूत्र तथा पसीने के द्वारा होता है।

इसका उपयोग आध्मान, शूल, अपस्मार, अपतन्त्रक, वातविकार, श्वास, कास, कुकास एवं हृच्छूल आदि में किया जाता है। हींग को घृत में भूनकर न्यवहार में लाया जाता है जिससे वमन नहीं होने पाता।

(१) फुफ्फुस के रोगों में हींग का अच्छा उपयोग होता है। जीर्ण श्वास नलिका शोथ, दमा, कुकास, बच्चों के फुफ्फुसपाक एवं शुष्क कास आदि में इसका व्यवहार किया जाता है। इसके लिये जल के साथ हींग के घोल का व्यवहार करना चाहिये।

(२) आध्मान, शूल, विदम्ब एवं आमाशय तथा आन्त्र की शिथिलता में अजवाइन अथवा प्लुवा और सातुन के साथ गोली बनाकर दिया जाता है। पेट के विकारों में हिंवाष्टक चूर्ण अथवा हिंगुकरपूरवटी का बहुत व्यवहार किया जाता है।

(३) विषमज्वर में प्रतिबन्धन की दृष्टि से अन्न के साथ हींग का व्यवहार किया जाता है।

(४) अपस्मार, अपतन्त्रक एवं तज्जन्य अन्य विकारों में इसका बहुत अच्छा उपयोग होता है।

(५) प्रसव के बाद इसके उपयोग से आर्तव शुद्धि होती है। बार बार होने वाले गर्भपात को रोकने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। गर्भ रहते ही ६ मासे हींग की ६० गोलियां बनाकर प्रारम्भ में १ गोली दिन में दो बार देते हैं। बाद में धीरे धीरे इसकी मात्रा बढ़ाते हुये १० गोली प्रतिदिन देते हैं और फिर प्रसवतक धीरे धीरे इसकी मात्रा कम करते हैं।

(६) आध्मान, शूल एवं आक्षेप आदि में २-३ माशा हींग जल के साथ घोटकर उसकी बस्ति दी जाती है। इससे सूत्र कुम्भ में भी लाभ होता है।

(७) सीलोन में नारियल के दूध में हींग को उबालकर सर्पदेश के स्थान पर लगाते हैं तथा पानी में इसको घोलकर नाक में भी टपकाते हैं। बिच्छू के काटने पर भी इसको लगाने से लाभ होता है।

(८) बच्चों के पेट फूलने पर इसका लेप पेट पर लगाते हैं तथा कुकास में छाती पर लेप करने से लाभ होता है। नाक तथा दाढ़ पर इसको लगाने से लाभ होता है।

(९) हींग तथा अफ्रोम की गोली दांत के दर्द में दांत के गढे में रखने से लाभ होता है।

(१०) हींग, लहसुन तथा सैथव आदि पदार्थों से सिद्ध तैल कर्णरोगों में बहुत उपयोगी है। इसको ३-१ चम्मच दूध के साथ दिन में ३, ४ बार या सुबह ४ चम्मच एक साथ ही दूध और मिश्री के साथ पिलाते हैं एवं इसको गर्म करके कान में ३, ४ बूँद डालते हैं। यह तैल बहुत अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) है एवं इसका अन्तर्बाह्य प्रयोग उपयोगी है।

मात्रा—२-८ रत्ती।

अथ वचाया नामानि गुणांश्चाह

वचोग्रन्था षडग्रन्था गोलोमी शतपर्विका। बुद्धपत्री च मङ्गल्या जटिलोग्रा च लोमशा ॥
वचोग्रन्था कटुका तिक्तोष्णा वान्तिवह्निहृत्। त्रिबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी ॥
अपस्मारकफोन्मादभूतजनवनिहानहरेत् ॥ १०३ ॥

वच के नाम तथा गुण—वचा, उग्रग्रन्था, षडग्रन्था, गोलोमी, शतपर्विका, बुद्धपत्री, मङ्गल्या, जटिला, उग्रा और लोमशा ये सब नाम वच के हैं। वच—उग्रग्रन्थ युक्त, तिक्त तथा कटुरस वाली, उष्णवीर्य, वमनकारक, अग्निजनक, विबन्ध, आध्मान और शूलको नष्ट करने वाली एवं मूल तथा मूत्र का शोधन करने वाली होती है। एवम् मिर्गी, कफ, उन्माद, भूतबाधा, कृमि तथा वायु को भी दूर करने वाली होती है ॥ १०२-१०३ ॥

२९ वच

हिं०—वच, घोरवच, घोड़वच। ब०—वच। म०—वेखण्ड। ते०—वासा, वस। ग०—वज, घोड़ावज।
क०—बजे। ता०—वशाब्द। मला०—व्यम्पु। गोमा०—वेखण्ड। पं०—वरि वोज। फा०—सोसन
जर्द, अगरि तुर्की। अ०—उदल बुज, अकरन, वज, विज। यू०—अकुरुन्। अं०—Sweet Flag
(स्वीट फ्लैग)। ले०—*Acorus calamus*, Linn. (एकोरस कॅलॅमस, लिन.)। Fam. Ara-
ceae (परसी)।

एशिया खण्ड का मध्य भाग तथा पूर्वी यूरोप वच का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। मणीपुर, नागा पहाड़, काश्मीर, सिरमूर और युक्त प्रान्त के कितने ही देशों के दलदल और सजल स्थान, में यह उत्पन्न होती है।

यह गुल्म जाति की बनौषधि ३-४ हाथ ऊँची होती है। इसकी जड़ अन्य पौधों की जड़ की तरह सीधी नहीं रहती बल्कि बहुत सी जटा के सदृश जड़ की शाखायें चारों ओर फैली हुई रहती हैं और इसकी मुट्ठी मध्यमा लंगली के समान होती है। प्रत्येक गाँठ के चारो ओर सघन रोवें से होते हैं। इसके प्रत्ते लम्बे, पतले और तलवार के समान रहते हैं। मंजरियां सघन, विदण्डक, २-४ इञ्च लम्बे, लम्ब गोल और ६-१८ इञ्च लम्बे पत्रकीर्णों से ढकी रहती हैं। वच के पौधों के सर्वाङ्ग में गन्ध आती है और इसकी जड़ में यह अत्यधिक होती है। मूलस्तम्भ तथा राइजोम (Rhizome) को टुकड़े टुकड़े कर बाजार में बेचते हैं। ये भूरे रङ्ग के और सुगन्धित होते हैं जिनके निचले हिस्से पर मूल के निशान रहते हैं तथा ऊपर के भाग में लम्बी गद्देदार धारियां होती हैं।

बाजार में वच के नाम से प्रायः कुलिजन (*Alpinia galanga*) की जड़ बेची जाती है। इसी लिये जहां वचा (*Acorus calamus*) की आवश्यकता हो वहां घोरबच नाम से ही औषधि खरीदनी चाहिये। वच के स्थान पर आंतरिक प्रयोग में बालवच का प्रयोग भी शास्त्रिक नहीं है न उचित ही है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धि उद्वनशील पीले रङ्ग का तैल १.५-२.५%, एकोरिन (*Acorin*) नामक मधु के समान पतला तिक्त सुगन्धि ग्लुकोसाइड, एकोरेटिन (*Acoletin*) नामक रास सद्दृश पदार्थ, कैलामेन (*Calamene*) नामक रवेदार क्षाराम तथा स्टार्च, गोंद, टैनिन् एवं कैल्शियम ऑक्सैलेट (*Calcium oxalate*) आदि पदार्थ रहते हैं। इसके उद्वनशील तैल में अँसारिल अँसिडहाइड (*Asuryl-aldehyde*), अँल्फापिनिन (*a-pinene*) एवं कैम्फीन् (*Camphene*) आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—वच वामिक, कफनिःसारक, हृत्सासकर, उद्वेघ्न निरोधि, वातानुलोकक, दीपन, पाचन, मेध्य, ब्रूय, कृमिघ्न एवं सुगन्धि है। अधिक मात्रा में देने से यह वामक है।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, श्वास, कास, कण्ठरोग, जीर्ण अतिसार, संग्रहणी, आध्मान, शूल, मन्दज्वर, विषमज्वर, कर्णमूल ग्रन्थिशोथ एवं अश्मरी आदि रोगों में किया जाता है।

(१) अपस्मार, अपतंत्रक एवं अंगघात आदि रोगों के लिये यह बहुत अच्छी औषधि है। इसके सेवन से धारणाशक्ति (मेधा) बढ़ती है। इसके लिये वच की मधु अथवा दूध के साथ अधिक दिन तक सेवन करना चाहिये। ब्राह्मी, शंखपुष्पी तथा वच तीनों समान मात्रा में लेकर इसके चूर्ण को ब्राह्मी के रस को ३ भावनाएं देनी चाहिये। इसको अथवा सारस्वत चूर्ण को ३ से १ माशा मधु एवं घृत के साथ कुछ दिन लेने से उन्माद, स्मरण शक्ति का हास एवं वाणी की जडता आदि दूर होकर बुद्धि का विकास होता है। बेहोशी दूर करने के लिये अन्य औषधियों के साथ इसका अच्छा उपयोग होता है।

(२) यह अधिक मात्रा (१ से २ माशा) में वामक है तथा खांसी और श्वास में वमन कराने के लिये इसको नमक और गरम जल से पिलाना चाहिये। इससे बिना किसी कष्ट के कफ निकल जाता है। यह इपिकाक की अपेक्षा अधिक अच्छी औषधि है। सरदी, गले की सूजन, खांसी तथा बच्चों के सूक्ष्म श्वसनिका शोथ में इसका काथ बहुत उपयोगी होता है। सूखी खांसी में इसका टुकड़ा मुख में रखने से लाभ होता है।

(३) इसमें रहने वाले टैनिन के कारण इसका उपयोग जीर्ण अतिसार एवं संग्रहणी आदि में किया जाता है। इसके सेवन से आध्मान एवं शूल दूर होता है तथा पाचन सुधर कर भूख बढ़ती है। बच्चों के लिये इसको भूनकर देना चाहिए। यह कृमि तथा पथरी में भी लाभदायक है। दंतोद्वेद के समय इसको चबाने को बच्चों को देते हैं।

(४) मलेरिया आदि विषमज्वरों में अन्य औषधियों के साथ इसके उपयोग से अधिक लाभ होता है।

(५) जयपाल के विष को दूर करने के लिये इसको भूनकर जल के साथ पिलाना चाहिये।

(६) अर्श में मांग और अजवाहन के साथ इसकी धूनी देने से दर्द दूर होता है।

(७) इसका बाह्य प्रयोग अंगघात, आमवात, संधिपीडा, आध्मान, शूल तथा खांसी और श्वास में उपयोगी है।

(८) मक्खी एवं दीमक आदि कीटों का नाश करने के लिये इसका उपयोग होता है।

मात्रा—वामक—१ से २ माशा; अन्य गुणों के लिये—२-४ र०। अधिक मात्रा से शिरःशूल होता है। **वर्षनाशक**—सौंफ।

अथ पारसीक (खुरासानी) वचाया नामानि गुणाँश्चाह

पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा। हैमवत्युदिता तद्द्रवातं हन्ति विशेषतः ॥१०३॥

खुरासानी वच के नाम तथा गुण—पारसीकवचा, शुक्लवचा और हैमवती ये नाम खुरासानी वच के हैं। खुरासानी वच—शुक्लवर्ण की (सफेद) होती है तथा गुणों में पूर्वोक्त वच के समान ही होती है किन्तु विशेष करके यह वायु को दूर करनेवाली होती है ॥ १०४ ॥

३० पारसीक वचा (खुरासानी वच)

पारसीक वचा (हैमवती) के संज्ञे में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। कुछ लोग इसी को बालवच भी कहते हैं। कुछ परम्परा ऐसी है कि आंतरिक प्रयोग में जब 'वचा' लेनी हो तो बालवच नाम से मिलने वाला द्रव्य लिया जाय एवं बाह्य प्रयोग में 'वचा' के नाम से घोरबच लिया जाय। यद्यपि इसके लिये कोई शास्त्रीय आधार नहीं मिलता और प्रत्यक्षतः वचा के स्थान पर बाह्याभ्यन्तर प्रयोग में घोर वच का उपयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। बालवच के नाम से भी बाजार में भिन्न-भिन्न मूल की गांठें विकती हैं जिनमें से एक का विनिश्चय श्री डा० बलवन्तसिंह जी ने किया है। इसका वैज्ञानिक नाम *Paris polyphylla* (पैरिस पॉलिफायला) है तथा इसे हिन्दी में दुधवच एवं नेपाली में इसे सतुआ कहते हैं। इसकी मोटी मोटी गांठें जैसी होती हैं। डा० देसाई के मत से मजार पोश (कश्मीर) ले०—*Iris germanica* Linn. (आइरिस जर्मनिका) यह बाल वच है। यह कश्मीर में कम पर लगाई हुई मिलती है। बाजार में एक बहुत छोटे अन्य प्रकार के मूल भी बालवच के नाम से मिलते हैं।

अथ महाभरीवचा

यस्या लोके कुलिजन इति नामान्तरं तस्या गुणानाह

सुगन्धाऽप्युग्रगन्धा च विशेषात्कफकासमुत्। सुखवरवकरी इभ्या हरकण्ठमुखशोधिनी ॥

महाभरी (कुलिजन) के गुण—महाभरी वच (कुलिजन) सुगन्ध तथा उग्रगन्ध युक्त होती है। विशेष करके यह कफ तथा खांसी दूर करने वाली, स्वर को उत्तम करने वाली, रचिजनक, हृदय, कण्ठ तथा मुख को शुद्ध करने वाली होती है ॥ १०५ ॥

३१ कुलिजन

हि०—कुलिजन, कुलिजन, बड़ा कुलिजन। **ब०**—कुरची वच, महाभरी वच, कुलिजन। **म०**—कुलिजन्, कौष्ट कोलिजन, मोठे कोलिजन। **गु०**—कुलिजन जानु, कोलिजन। **सिन्ध०**—कुजर, कंजर, कांठी। **ता०**—पेररत्तह। **ते०**—पेडुदुम्पराशष्कम्। **मला०**—पेरारट्टा। **क०**—धूम रास्मी। **ब्रह्मी०**—पदगोजी। **फा०**—खिरदार, खरदार, खुशरवे दाह पकजान्। **अ०**—इक खोलिजान, खुलंजान, खुलंजाने कस्वी, खुलंजान्-द-कबीर। **अं०**—Greater Galanga (ग्रेटर

गॅलंगाल); Java Galangal (जावा गॅलंगाल) । ले०—*Alpinia galanga Willd.*
(अल्पिनिया गॅलंगा) । Fam. Zingiberaceae (झिजिबेरसी) ।

पहले यह जावा और सुमात्रा से आया करता था किन्तु अब बंगाल के पूर्व भाग, दक्षिण भारत, मालाबार और गोमान्तक के जंगलों में यह अधिकता से उत्पन्न होता है ।

इसका छुप आमा हल्दी के आकार का ६-७ फीट ऊँचा होता है । पत्ते—९ से १८ इंच लम्बे, १ ३/४ से ४ ३/४ इंच चौड़े, चिकने, आयताकार-भालाकार होते हैं । फूल—दूरे से सफेद छोटे छोटे आते हैं । फल—तिहाई इंच गोल नारङ्गी रङ्ग के होते हैं । बहुवर्षायु छुप होने के कारण काण्ड के सूख जाने पर भी इसकी जड़ जीवित रहती है । जड़—कन्दवत् और सुगन्ध युक्त होता है । इसको उकड़े-डुकड़े कर सुखा करके बँचते हैं । ये डुकड़े १ इंच से २ ॥ इंच तक मोटे, बाहर से लाल या मोर्चा के समान बादामी रङ्ग के और अन्दर से हल्के नारङ्गी बादामी रङ्ग के होते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित हल्के पीले रंग का तेल १.५-४.८% पाया जाता है जिसमें यूजेनॉल (Eugenol 25%), सिनेओल-डी-पिनेन् (Cineole-d-pinene), कॅडेनेन्स (Cadenes), बॅसोरिन् (Bassorin) एवं गॅलैगिन् (Galangin) रहते हैं । इसके अतिरिक्त इसमें ३ पीले रवेदार पदार्थ कैफेराइड (Kaempferide, C₁₆H₁₂O, H₂O), गॅलंगॉल (Galangol), मॉनोमैथिल ईथर ऑफ गॅलैगिन् (Moso-methyl ether of galangin) और स्टार्च २३%, राल, टैनिन, फ्लोबॅफेन (Phlobaphene), वसा और मोम आदि पदार्थ रहते हैं ।

गुण और प्रयोग—प्राणियों में सिरा द्वारा इसके टिंक्चर या काथ के प्रयोग से निम्न प्रभाव दिखलाई देते हैं । रक्त का दबाव पहले कम होकर बाद में ठीक हो जाता है । यह शायद औदरिक रक्तवाहिनियों के विस्फार के कारण होता है । रक्तवहसंस्थान तथा हृदय के ऊपर इसकी अवसादक क्रिया होती है । इसकी अल्प मात्रा से श्वसन क्रिया उत्तेजित तथा अधिक मात्रा से श्वसन केन्द्र का घात होकर अवसादित होता है । इसकी अल्प मात्रा से भी श्वसनिकाओं (Bronchioles) का विस्फार होता है । यह पाइलोकारपीन द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न श्वसनिकाओं के संकोच को भी दूर करता है । रक्त के दबाव के कम होने के कारण ही प्रारंभ में मूत्र की मात्रा कम होती है जो बाद में प्रकृत हो जाती है । पृथक्कृत (Isolated) गर्भाशय इसके प्रयोग से शिथिल होता है तथा उसके संकोच नियमित होने लगते हैं । पाचन-संस्थान के ऊपर इसकी क्रिया अन्य सुगन्धि उड़नशील तैलों की तरह होती है ।

कुलंजन उत्तेजक, कफनिःसारक, दीपक, पाचक, वातानुलोमक, बल्य तथा वृष्य है ।

इसका व्यवहार सरदी, जुकाम, आमवात, खांसी, श्वास, स्वर भंग एवं मधुमेह आदि में किया जाता है ।

(१) श्वास, खांसी, जुकास एवं सरदी के लिये यह बहुत अच्छी औषध है । बच्चों एवं वृद्धों के श्वसनसंस्थान के विकारों में इसको मधु के साथ चयाने से बहुत लाभ होता है । इससे श्वासकृच्छ्र दूर होकर ज्वर भी कम होता है । दमे में इसके उद्वेगननिरोधि गुण के कारण लाभ होता है । गले के प्रदाह में इसको चूसने से लाभ होता है ।

(२) इसके सुगन्धि, पाचक तथा दीपक गुणों के कारण पाचन के विकारों में यह उपयोगी है तथा अन्य औषधियों की सुगन्धित करने के लिये इसका व्यवहार किया जाता है ।

(३) मधुमेह तथा अपने आप होने वाले मूत्रत्याग (Incontinence) में इसका काथ लाभदायी है ।

(४) मुख की दुर्गन्धि दूर करने के लिये तथा वाजीकरण के लिये इसको चबाते हैं ।

(५) इससे सिद्ध तैल का उपयोग मुखदूषिका तथा कर्णपिटिका आदि चर्म रोगों में किया जाता है ।

(६) दन्तशूल में इसके चूर्ण को दांतों पर रगड़ते हैं ।

(७) अधिक पसीना आता हो तो इसके चूर्ण को शरीर पर रगड़ते हैं ।

(८) इसके बीज का भी उपयुक्त गुणों के लिये व्यवहार होता है ।

मात्रा—२ से ४ र., टि. ३-१ ड्रा. ।

नोट—इसी की एक अन्य जाति जिसे अल्पीनिया ऑफिसिनेरम (*Alpinia officinarum Hance*) और अं. में लैस् गॅलंगल (*Lesser galangal*) कहते हैं, उसका भी व्यवहार कुलंजन के स्थान पर किया जाता है तथा हीनश्रेणी की सोंठ अथवा घोरबच की मिलावट भी इसमें रहती है ।

अथ अपरा सुगन्धा स्थूलग्रन्थिः

यस्या लोके महाभरी इति नाम तस्या गुणानाह

स्थूलग्रन्थिः सुगन्धा स्यात्ततो हीनगुणा स्मृता ॥ १०६ ॥

महाभरी वच के गुण—जो मोटी गांठवाली तथा सुगन्धयुक्त (महाभरी) वच होती है वह पूर्वोक्त वच की अपेक्षा हीन गुण वाली होती है ॥ १०६ ॥

३२ महाभरीवच

हि०—महाभरा वच, महाभरी वच, कुलंजन भेद । ब०—महाभरी वच, नरकचूर । पं०—कचूर, नरकचूर । मला०—कटुइंशीकुआ । ले०—*Zingiber zerumbet Rosc. ex Smith* (जिजोवर् जिरम्बेट) । Fam. Zingiberaceae (झिजिबेरसी) । इस देश के कई प्रान्तों में यह उत्पन्न होती है ।

इसका छुप गन्ने के समान ३ से ५ फीट ऊँचा और आध इंच गोल होता है । पत्ते—८-१२ इंच लम्बे, २-३ इंच चौड़े, नरसल के पत्तों के समान किञ्चित् आयताकार-भालाकार एवं नोकदार होते हैं । १२ से १८ इंच तक लम्बी खण्डियों पर फूल आते हैं । फूल—पीले रङ्ग के होते हैं । फल—एक इंच लम्बा दीर्घवृत्ताकार होता है । बीज—छोटे छोटे आयताकार काले रङ्ग के होते हैं । मूलस्तम्भ—कड़ा, द्विवर्षीय, भीतर से पीत, एवं स्वाद में कुछ आर्द्रक जैसा ही किन्तु कुछ कड़वाहट लिये हुए होता है । इसका व्यवहार खांसी, श्वास, कृमि, कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में किया जाता है एवं इसके अन्य गुण सोंठ की ही तरह हैं ।

अथ चोपचीनीति लोके या प्रसिद्धा तस्या नाम गुणांश्वाह

द्वीपान्तरवचा किञ्चित्तिकोष्णा वह्निदोसिकृत् । विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी ॥
वातश्याधीनपस्मारमुन्मादं तनुवेदनाम् । व्यपोहति विशेषेण फिरङ्गामयनाधिनी ॥१०८॥

चोबचीनी के नाम तथा गुण—'द्वीपान्तरवचा' यह संस्कृत नाम चोबचीनी का है। चोबचीनी—कुछ विकारसयुक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, विबन्ध, आध्मान तथा शूल को नष्ट करने वाली, मल तथा मूत्र का शोधन करने वाली होती है एवं वातव्याधि, अपस्मार (मिर्गी), उन्माद (पागलपन) और शरीर के दर्द को दूर करती है और विशेष करके यह फिरङ्गरोग के दूर करने में उत्तम होती है ॥ १०७-१०८ ॥

३३ चोपचीनी

हि०—चोपचीनी, तोपचीनी, चोबचीनी । ब०—तोपचीनी, कुमारिका, शुकचिन । म०, गु०—चोपचीनी । ते०—पिरङ्गीचेका । ता०—परङ्गिचेकर । मला०—चाइना पैवू या पैरू । ने०—चोपचीनी । यू०—खसिलियर आशसिनी । फा०—चोबचीनी । अ०—कशबचीनी, खुशबुस्सीनी । अं०—China root (चाइनारूट) । ले०—*Smilax china* Linn. (स्माइलैक्स चारना) । Fam. Liliaceae (लिलिएसी) ।

वच की अनेक जातियों में चोपचीनी भी एक मानी गई है। यह चीन देश में अधिक उत्पन्न होती है और वहाँ से इस देश में आती है। इस कारण इसका नाम द्वीपान्तरवचा रखा गया है।

यह लता जाति की वनौषधि बहुत विस्तार में फैलनेवाली होती है। इस लता की जड़ को ही चोपचीनी कहते हैं।

चोबचीनी ८-१० अङ्गुल लम्बी, आध से एक इञ्च तक मोटी, गांठदार, बरेशा, सुरदरी तथा दृढ़ काष्ठवत् जड़ है। इसका स्वरूप सफेदी मायल पीत, गुलाबी एवं किंचित कालापन युक्त होता है। अधिक पुरानी होने पर चोपचीनी में प्रायः धुन लग जाते हैं, जिससे वह छिद्र युक्त दिखाई देती है। धुनी हुई तथा गांठविहीन चोपचीनी को उपयोग में नहीं लाना चाहिये।

रासायनिक सङ्गठन—इसमें वसा, शर्करा, ग्लूकोसाइड, रजक पदार्थ, सॅपोनिन्, गोंद तथा स्टार्च आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—सैम्युएल चार्ल्स पंचम के वातरक्त (Gout) में इस औषधि की बहुत सफलता सिद्ध होने से इसका युरोप में बहुत प्रचार हुआ था। १७ वीं शताब्दी में सार्सापरिला के समान इसका व्यवहार किया जाता रहा।

यह स्वेदल, स्नेहन, उत्तेजक, रसायन, रक्तशोधक, बल्य, वाजीकर, फिरंगहर तथा धातुओं को गलाने वाली (Resolvent = रीसॉल्वेन्ट) है।

(१) इसको दूध में उबाल कर इसमें मस्तगी, इलयची तथा दालचीनी मिलाकर इसका व्यवहार आमवात, वातरक्त, अपस्मार, जीर्ण वातविकार, काश्य, धातुक्षीणता, ग्रन्थिविकार तथा फिरंग की तृतीयवस्था में किया जाता है।

(२) अनन्तमूल के साथ इसको पुराने सिरदर्द में देने से लाभ होता है तथा आमवात एवं फिरङ्ग में भी इसका व्यवहार करते हैं।

(३) डा० देसाई के मतानुसार यह श्रेष्ठ रसायन है। इसकी क्रिया त्वचा, सन्धियों के बन्धन तथा रसग्रन्थियों पर होती है। सौजाक से उत्पन्न सन्धिशोथ आदि विकारों में तथा फिरङ्ग की द्वितीयवस्था तथा तृतीयवस्था में इससे बहुत लाभ होता है। पोटेशियम आयोडाइड की अपेक्षा यह शीघ्र लाभकर निर्दुष्ट औषध है। फिरङ्गादि से उत्पन्न ग्रन्थिवृद्धि में इसके उपयोग से प्रथम वेदना कम होकर बाद में सूजन कम होती है। चोबचीनी जितना चूर्ण रूप में काम करती है उतना फाण्ट या काथरूप में नहीं करती।

मात्रा—चूर्ण—३-३ तो०, सोंठ के साथ दूध में।

इस जाति की जिन अन्य औषधियों का व्यवहार किया जाता है प्रसंगतः उनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है।

(क) जङ्गली उशबा

हि०—जङ्गली उशबा, चोबचीनी । ब०—कुमारिका । मल०—कुरिबिलिडि । म०—घोटवेल । गु०—गुटी । ता०—मलेतामर ले०—*Smilax macrophylla* Roxb. (स्माइलैक्स मैक्रोफाइला राक्स) ।

यह एक बड़ी लता होती है जो समस्त भारत में उत्पन्न होती है। पत्ते—लम्बे, बड़े, अखण्ड और नुकीले रहते हैं जिन पर ५, ७ मोटी सिराएँ होती हैं। कांटे दूर-दूर या प्रायः अनुपस्थित होते हैं। पुष्प—गुच्छों में आते हैं। फल—चने के समान गोल, हरित एवं पकने पर रक्तवर्ण के हो जाते हैं। मूल—बहुत तथा सार्सापरिला के समान लाल रंग की होती है। इसकी जड़ों का व्यवहार किया जाता है। इसकी जड़ें ताजी काम में लानी चाहिये।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदल, मूत्रल, पौष्टिक, कामोद्दीपक और रसायन है। फिरङ्ग की द्वितीयवस्था, जीर्ण आमवात तथा सन्धिशोथ में इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। फिरङ्ग से उत्पन्न होने वाले फोड़े—फुन्सियाँ, सन्धिवात, अस्थिशोथ, अस्थिवात और शूल तथा ग्रन्थियों की वृद्धि में उपयोगी है। पुराने शर्मरोग तथा गण्डमाला में इससे लाभ होता है। नेपाल में ३ माशा चूर्ण सौजाक तथा अन्य श्लैथिमककला के स्त्रावों के लिए दिया जाता है।

मात्रा—१-२ तो० चूर्ण का काथ दिन में एक बार।

(ख) बड़ी चोबचीनी

हि०—बड़ी चोबचीनी । ब०—हरिनाशुकचिन । म०—गोटी शुकचिन । पहा०—हसिन । ले०—*Smilax glabra* Roxb. (स्माइलैक्स ग्लैब्रा राक्स) ।

यह लता आसाम, सिलहट, खासिया की निम्न श्रेणियाँ एवं तेनासेरिम आदि स्थानों में उत्पन्न होती है। इसमें कांटे नहीं होते। पत्र—नुकीले, पतले, अधोभाग हलके रङ्ग का; पुष्प—सफेद विदण्डक; मूल—चोबचीनी की तरह।

गुण और प्रयोग—इसके ताजे मूल का काथ त्वक् रोग तथा फिरंग आदि रतिजन्य उपसर्गों से उत्पन्न फोड़े फुन्सी आदि में दिया जाता है।

(ग) हरिया शुकचिन

पहा०—हरिन शुकचिन । ब०—गुचिवा शुकचिन । ले०—*Smilax lanceaefolia* Roxb. (स्माइलैक्स लैन्सेफोलिया) ।

यह भी लता सिक्किम, हिमालय, आसाम एवं बर्मा में होती है। पत्र—पतले तथा उन पर ३ बड़ी शिराएँ रहती हैं। इसकी जड़ चोबचीनी के समान होती है जिसका व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ का रस निकाल कर आमवात में पिलाते हैं तथा इसके कल्क को वेदनास्थान पर बांधते हैं।

(घ) उशबा, सार्सापरिला

हि०—उशबामयवी, सार्सापरिला । अं०—Sarsaparilla (सार्सापरिला) । ले०—*Smilax ornata* Hook. (स्माइलैक्स ओर्नेटा) ।

यह स्माइलैक्स की उपर्युक्त विदेशी जाति तथा अन्य विदेशी जातियों के सुखाये हुए मूल हैं। कभी-कभी भौमिक काण्ड (राइजोम) के टुकड़े इसके साथ मिले रहते हैं।

यह बहुत लंबे, धारीदार एवं कुछ लालिमा लिये हुए होते हैं। स्थान भेद से तथा वर्ण, धारी एवं भौमिक या वायवीय भाग की अधिकता इत्यादि के कारण इसके स्वरूप में भिन्नता रहती है। यह प्रायः गंधहीन एवं कुछ मीठापन लिये हुए कट्टे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें मुख्यतया सैपोनिन् (Sapoin) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—फिरंग, आमवात, जीर्ण चर्म विकार एवं रक्तदोष के लिए यह बहुत प्रसिद्ध औषध रही है। यह कैसे कार्य करती है यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः शारीरिक क्षमता को बढ़ाकर या अन्य औषध के प्रचूषण में सहायता का कार्य करती है। विदेशों में इसका उपयोग अनेक बल्य पेयों में किया जाता है। भारतीय सासार्परिला के नाम से अनन्तमूल का उपयोग किया जाता है।

मात्रा—१ से ३ माशा।

अथ हपुषाद्वयम्

तन्मध्ये प्रथमं फलं मत्स्यसदृशं विस्त्रगन्धं द्वितीयमश्वत्थफलसदृशं मत्स्यगन्धम्, तयोर्नामानि गुणोश्चाह हपुषा हबुषा विस्त्रा पराश्वत्थफला मता। मत्स्यागन्धाप्लीहहन्त्री विषघ्नी ध्वाङ्क्षनाशिनी ॥ हपुषा दीपनी तिक्ता मृदूष्णा तुवरा गुरुः। पित्तोदरसमीराशोम्रहणीगुल्मशूलहृत् ॥ परास्प्येतद्गुणा प्रोक्ता रूपभेदो द्वयोरपि ॥ ११० ॥

दो प्रकार का 'हाऊबेर' होता है। उसमें पहला जो आकार में मछली के समान तथा आम गन्धवाला होता है और दूसरा जो आकार में पीपल के फल के समान तथा मछली के समान गन्धवाला होता है, उन दोनों के नाम तथा गुण—

हपुषा, हबुषा और विस्त्रा ये तीन नाम प्रथम हाऊबेर के हैं और दूसरे के नाम—अश्वत्थफला, मत्स्यगन्धा, प्लीहहन्त्री, विषघ्नी और ध्वाङ्क्षनाशिनी (इसके खाने से कौबे मर जाते हैं) ये हैं। प्रथम हाऊबेर—अग्निदीपक, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, मृदु, उष्णवीर्य, पाक में गुरु, पित्त, उदर और वात सम्बन्धी रोग, बवासीर, ग्रहणी, गुल्म तथा शूल को दूर करता है और दूसरा हाऊबेर भी नहीं पूर्वाक्त गुणों से युक्त होता है अन्तर केवल आकार तथा गन्ध मात्र में ही है।

३४ हपुषा (हाऊबेर)

हि०—हाऊबेर, हाऊबैर, आरार। ब०—हबुषा। म०—होश। मा०—हाऊबेर। पं०—हाऊबेर, पेल्यरी, अवहुल। कुमा०—चिचिया। काश्मी०—बेंया, पेथरा। फा०—तुल्मदुलह, ओरस। अ०—अरअर, अवहाल, हब्बउलअरअर। अं०—Juniper berry (ज्युनिपेर बेरी)। ले०—*Juniperus communis* Linn. (ज्युनिपेरस कम्युनिस, लिन)। Fam. Cupressaceae (क्यूप्रेसिटी)।

हाऊबेर दो प्रकार का होता है। एक का संस्कृत नाम 'हपुषा' और दूसरे का 'अश्वत्थफला' है। हपुषा और अश्वत्थफला वास्तव में दोनों फल और गन्धभेद से दो द्रव्य हैं, परन्तु दोनों के गुण समान हैं और दोनों ही के वृक्ष भी समान ही होते हैं। हपुषा—मछली के समान आकृति का एवं आम गन्ध युक्त और अश्वत्थफला—मछली के समान गन्ध और पीपल (अश्वत्थ) वृक्ष के फलों के समान फलवाला होता है।

हपुषा के वृक्ष हिमालय के पश्चिमोत्तर भाग में कुमाऊँ से पश्चिम की ओर १२,५०० से १४,००० फीट की अंचाई तक देखने में आते हैं।

इसका वृक्ष बड़ा नहीं होता बल्कि इसका झाड़ होता है जो सघन, फैला हुआ, तथा बारहो मास हरा भरा रहता है। पत्ते—रेखाकार, नोकिले, ५ से १३ मि. मी. लंबे, एक साथ तीन-तीन एवं काण्ड से समकोण बनाते हुए होते हैं। फूल—पीत वर्ण के गुच्छों में आते हैं। फल—गुं-गुं इत्र के घेरे में गोलाकार, गूदेदार और पकने पर नीलापन युक्त काले या कुछ बैंगनी रङ्ग के दिखाई पड़ते हैं। इनके ऊपर रजावरण रहता है। अग्र भाग पर शल्कपत्र के त्रिविभक्त निशान रहते हैं और आधार पर भी शल्कपत्र के दो चक्र रहते हैं। प्रत्येक फल में तीन-तीन बीज रहते हैं जिनके पृष्ठ पर तैलग्रन्थियाँ पाई जाती हैं। फलों से तेल निकाला जाता है।

कुछ लोग ले०—टैमैरिक्स गॅलिका (*Tamarix gallica* Linn.), हि०—झाऊ तथा फ्लूजिया ल्यूकोपाइरस (*Flueggea leucopyrus* Willd) का ग्रहण करते हैं जो उचित नहीं है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल ०.२५%, रास १०%, मधुशर्करा ३३%, एक तिक्त पदार्थ ज्युनिपेरिन (*Juniperin*), ऑक्सेलिक एसिड तथा कुछ आर्गेनिक अम्ल (*Organic acid*) आदि पदार्थ रहते हैं।

इसी की एक अन्य जाति ज्यु. मैक्रोपोडा (*J. macropada* Boiss) के फल कुछ लम्बे रहते हैं तथा उसमें तैल की मात्रा ३.२४% पाई गई है।

गुण और प्रयोग—हाऊबेर सुगन्धित, मूत्रजनक, वातानुलोमक, आध्मानहर, पाचक, उत्तेजक, शूलघ्न, रक्तस्कन्दक, आर्तवजनक एवं उपसर्गनाशक है।

इसका उपयोग उदर रोग, यकृत प्लीहा के विकार, आमवात, संधिशोथ, श्वास, जीर्ण श्वस-निकाशोथ, मुखपाक, अर्थावभेदक, नया तथा पुराना सोजाक, श्वेतपदर, कष्टार्तव, अनार्तव, मधुमेह तथा चर्मरोग में किया जाता है।

(१) यह एक उत्तेजक मूत्रजनक है। इसकी क्रिया प्रत्यक्ष वृक्क के ऊपर होकर मूत्र की मात्रा बढ़ती है। इसका उपयोग हृदय, यकृत अथवा जीर्ण वृक्कशोथ के कारण उत्पन्न जलोदर में अन्य औषधियों के साथ किया जाता है। तीव्र वृक्क शोथ में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। वृक्कों के वृक्कजन्य जलोदर में इससे लाभ होता है।

(२) आध्मान, शूल तथा पाचन के विकारों में इसको मद्यसार के साथ देते हैं।

(३) इसका तैल उत्तेजक, मूत्रल तथा वातानुलोमक है एवं इसका उपयोग कटिशूल, आध्मान तथा शूल में किया जाता है। उत्सर्ग के समय प्रत्याक्षेप क्रिया द्वारा यह गर्भाशय का संकोच करता है इसलिए आर्तवस्राव वृद्धि के लिए इसका उपयोग किया जाता है। इसके बाह्य प्रयोग से चर्म में प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। वृक्क रोग में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(४) इसका काष्ठ स्वेदक है तथा ग्वायकम और सासाफ्रास के बदले में प्रयुक्त होता है।

(५) हाऊबेर का रस एक अच्छा उपसर्ग नाशक है। स्थूलान्न दण्डाणु (बो० कोलाइ) जैसे जीवाणुओं का भी यह नाश करता है। इसके धूँस का व्यवहार किया जाता है तथा यह मांस तथा मद्य के संरक्षण के लिये भी प्रयोग में आता है। जानपदिक संक्रामक रोगों के मरक (*Pestilence*) को रोकने की दृष्टि से यह उपयोगी समझा जाता है। मरक के समय इसके चूर्ण का दैनिक सेवन करने से व्याधि का प्रतिषेध होता है।

(६) बच्चों के राजयक्ष्मा में इसको पकाकर देने से भूख बढ़ती है, वजन बढ़ता है और लाभ होता है।

(७) इसके चूर्ण को आमवातादि में संधियों तथा सूजन पर मलते हैं।

(८) यह 'जिन' आदि आपानक मर्चों के निर्माण के लिये युरोप में व्यवहार में आता है।

मात्रा—चूर्ण—२-६ माशा। तैल—३ से १ बूंद पाचक, ४-६ बूंद मूत्रल। स्पिरिट (२० में १) २०-६० बूंद। फाट—२-३ औंस।

अथ विडङ्गस्य नामानि गुणांश्चाह

पुंसि बलीवे विडङ्गः स्यात्कृमिघ्नो जन्तुनाशनः। तण्डुलश्च तथा वेङ्गममोषा चित्रतण्डुलः ॥
विडङ्गं कटु तीक्ष्णोष्णं रूचं वह्निकरं लघु। शूलाध्मानोदरश्लेष्मकृमिवातविबन्धनुत् ॥११२॥

वायविडङ्ग के नाम तथा गुण—विडङ्ग (यह शब्द पुच्छिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग दोनों ही में व्यवहृत होता है), कृमिघ्न, जन्तुनाशन, तण्डुल, वेङ्ग, अमोषा और चित्रतण्डुल ये सब वायविडङ्ग के पर्यायवाची शब्द हैं। वायविडङ्ग—कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण और उष्ण बौध्द होता है तथा रूक्ष, अग्नि-वर्धक एवं पाक में लघु होता है और यह शूल, आध्मान, उदर, कफ, कृमि तथा वात रोग एवं विबद्धता को दूर करता है ॥ १११-११२ ॥

२५ वायविडङ्ग

प्रायः सभी पंतारी घनिये के समान गोल-गोल किञ्चित् लाली युक्त बीज को वायविडङ्ग के नाम से बेचते हैं और अधिकांश वैद्य इसी को लेकर व्यवहार में लाते हैं किन्तु आज कल के कतिपय विद्वान् वैद्यों की सम्मति है कि शास्त्रीय 'विडङ्ग' वास्तव में आज कल व्यवहार में आने वाले फल वायविडङ्ग नहीं है बल्कि 'नाड़ीहिङ्गु' (हि०-डिकामाली) शास्त्रीय विडङ्ग है। उनके मत से फल वायविडङ्ग की जगह नाड़ीहिङ्गु को उपयोग में लेना चाहिये। कुछ विद्वान् काम्पिप्ल के फल को ही वायविडङ्ग मानते हैं। इस प्रकार वायविडङ्ग एक भ्रमात्मक औषधि मानी जाने लगी है। किन्तु मेरो समझ में विडङ्ग और नाड़ीहिङ्गु एक वस्तु नहीं हैं और न वायविडङ्ग काम्पिप्ल का फल ही है। प्रचलित विडङ्ग में शास्त्रोक्त कृमिघ्न अग्निदीपक आदि गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, अतः सर्वमान्य निर्णय होने तक इसीका व्यवहार औषधि-कार्यों में करना चाहिए।

हि०-वायविडङ्ग, वायमिडङ्ग, वायभिरङ्ग, भाभिरंग, वाभिरंग। ब०-विरंग। म०-बावडिङ्ग, गु०-बावडीङ्ग। क०-वायुविडङ्ग, वायविलंग। ते०-वायुविडङ्गमु। ता०-वायुविलंगम। पं०-बवरंग, वावरंग। मा०-वायविरंग। सिंहली०-उम्बेलिया, अम्बेलिया। ने०-हिमलचेरी। अ०-वरंज कावली, विरंज कावली। फा०-वरंज कावली, विरंज कावली, विरङ्ग कावली। अं०-Babreng; Fruits of Embelia ribes (बाव्रिंग, फ्रूट आफ एम्बेलिया राइब्स)। ले०-Embelia ribes Burm. (एम्बेलिया राइब्स)। Fam. Myrsinaceae (मिर्सिनेसी)।

यह मध्य हिमालय से भारतवर्ष के पहाड़ी भागों में तथा सिलोन से सिंगापुर तक बहुत पाया जाता है।

इसकी झाड़ी-बहुत विस्तार में बढ़ने वाली होती है। छाल-वातरन्ध्रों के कारण खुरदरी होती है। टहनियाँ-लंबी, पतली, लचीली, गोल एवं लंबे पर्व युक्त होती हैं। पत्ते-चर्मवत्,

२ से ४ इंच लंबे दीर्घवृत्ताकार, या कुछ भालाकार, तीक्ष्णाग्र, ऊपर से चमकीले एवं अधोतल पर हलके या कुछ रजताभ एवं सूक्ष्म रक्ताभ ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। फूल-सफेद या किञ्चित् हरियाली लिये फीके पीले रंग के गुच्छों में आते हैं। फल-चौथाई इंच तक गोलकार, पकने पर लाल रंगके किन्तु सूखने पर खुरदरे काले रंग के दोख पड़ते हैं। फलों में डण्डल के साथ पांच पट्टों का पुष्प पात्र लगा रहता है और अग्र की तरफ नोकिला रहता है। फल तोड़ने पर चितकबरे लाल रंग के पतले आवरण से युक्त एक-एक बीज निकलता है, जो स्वाद में चरपरा और गरम मसाले के समान सुगन्धित होता है। चित्रतण्डुलः यह पर्याय इसी चितकबरे वर्ण का शोतक है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एम्बेलिक एसिड (Embelic acid) या एम्बेलिन (Embelin, C₁₈ H₂₈ O₄) नामक एक सुनहरे पीले रंग का रवेदार पदार्थ २.५% पाया जाता है। यह जल से अवुलनशील तथा मद्यसार, ईथर, क्लोरोफार्म और बेंझीन में घुलनशील होता है। क्षारीय घोल में यह घुलकर घोल लाल रंग का हो जाता है। इसके अतिरिक्त अल्प मात्रा में क्रिस्टेम्बिन (Christembin) नामक एक क्षाराभ तथा तैल, उडनशील तैल, रजक द्रव्य, टैनिन एवं राल सदृश पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम कृमिघ्न, वातानुलोमक, वातहर, दीपन, पाचन, वातनाडी संस्थान के लिये बल्य, रक्त शोधक, आनुलोमिक तथा रसायन है। रसग्रन्थियों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। इसका उत्सर्ग मूत्रद्वारा होता है जिससे मूत्र लाल रंग का हो जाता है।

(१) स्फीतकृमि (Tape-worm) के लिये यह अत्युत्तम औषधि है। मेलफर्न (Malefern) के समान इससे मरोड नहीं होती और अधिक लाभ होता है। बच्चों को ४ माशा तथा बड़ों को ८ माशा चूर्ण मधु या दही के साथ सुबह खिलाकर ४ घंटे पश्चात् एरण्ड तैल अथवा कोई विरेचन देना चाहिये। अथवा कोष्ठ शुद्धि के पश्चात् रातमें इसका चूर्ण मूठके के साथ देकर दूसरे दिन सुबह विरेचन देना चाहिये। इससे मरे हुए कृमि निकल जाते हैं। अन्य कृमियों पर इससे लाभ नहीं होता। इसका कृमिघ्न गुण एम्बेलिक एसिड के कारण है। इसके लवण अमोनियम एम्बेलेट (Ammonium embelate) (१-३-२०) का भी उपयोग मधु के साथ अच्छा होता है। इसके पूर्व तथा पश्चात् एरण्ड तैल से विरेचन कराना चाहिये।

(२) यह एक अच्छा रसायन है। सुश्रुत में एक 'सर्वोपघातशमनीय' नामक प्रयोग बतलाया है। नित्य एक महीने तक विडङ्ग के मगज का चूर्ण तथा मुलेठी खाकर ऊपर से ठण्डा जल पीना चाहिये। पथ्य में बिना नमक, मूंग का आवले के साथ सिद्ध किया यूष तथा धी और मात औषध पचने पर लें। इसके उपयोग से सब प्रकार के अर्श अच्छे होते हैं। ग्रहण शक्ति तथा धारणा शक्ति बढ़ती है। शरीर के सभी प्रकार के कृमि नष्ट होकर शरीर स्वस्थ होता है। इसके हर साल प्रयोग से मनुष्य निरोग तथा शतायु होता है। इससे सब प्रकार के पुराने रोग जैसे अर्श, संग्रहणी, प्रमेह, कुष्ठ, क्षय, श्वास, उपदंश एवं त्रण आदि अच्छे होते हैं तथा हैजा, प्लेग आदि उपसर्गों का भय नहीं रहता।

(३) बालकों के सभी रोगों की यह अच्छी औषधि है। सुखण्डी, आध्मान, शूल, कुपचन एवं अश्लिमांश आदि में दूध में इसको डालकर उबालते हैं और वही दूध पिलाते हैं। इससे बच्चे तन्दुरुस्त रहते हैं। यदि इसके साथ अनन्तमूल भी दिया जाय तो अधिक लाभ होता है।

(४) गण्डमाला के लिये—वायविडङ्ग, गुग्गुलु, मनःशिला तथा शृङ्गभरम, मधु और घृत के साथ देने से धीरे २ लाभ होता है।

(५) चर्म रोगों में इसका आन्तरिक एवं बाह्य प्रयोग किया जाता है। दाद में इसके लेप से लाभ होता है।

(६) मज्जातन्तु के रोग जैसे अर्धांगघात, आक्षेप एवं अपस्मार आदि में लहसुन के साथ दूध में उबाल कर देना चाहिये।

(७) पीनस, शिरःशूल तथा अर्धांगभेदक में इससे सिद्ध तैल के नस्य से लाभ होता है। शिरःशूल में कपाल पर इसकी मालिश करनी चाहिये।

(८) विच्छेद के काटने तथा सर्प दंश पर इसका उपयोग लिखा गया है।

(९) इसका ताजा रस शीतल, मूत्रल तथा आनुलोमिक होता है।

मात्रा—चूर्ण ४ से १६ माशा।

३६ विडङ्ग भेद

सं०—विडङ्गभेद। हि०—वायविडङ्ग भेद, वायविरङ्ग। अवध०—बेवरङ्ग। देहरादून—वायविरङ्ग, गैया। गोंड—कोपडली। कुरकु०—भारङ्गेली। मु०—आमटी, गोंदली, बार्बटी। ने०—कलय बोगोटी। अं०—Basal (बासल)।

ले०—*E. tsjeriam-cottam*, A. DC. (ए० त्सेरियम्-कोट्टम, ए० डीसी०)।

Fam. Myrsinaceae (मिरसिनसी)।

यह हिमालय पहाड़ के पूर्व की ओर बङ्गाल तथा दक्षिण की ओर सिलोन तक कहीं न कहीं पाया जाता है।

इसके वृक्ष छोटे और बहुत झाड़दार होते हैं। पत्ते कुछ अधिक बड़े होते हैं तथा शिराएँ कुछ सुरचई रोमावरण से युक्त होती हैं। फूल—हरियाली लिये सफेद रङ्ग या हरापन युक्त फीके पीले रङ्ग के बहुत छोटे छोटे आते हैं। फल—छोटे छोटे गोल होते हैं और लंबाई में महीन धारीदार होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वातानुलोमक, कुमिष्ण, अशोष्ण, शोथप्रतीकारक और रसायन है। इसका उपयोग विडङ्ग के समान किया जाता है। बाजार में दोनों ही जाति के फल मिले हुये रहते हैं।

(१) वह भी विडङ्ग के समान स्फीतकृमि नाशक होता है।

(२) मण्डमाला में अनन्तमूल के साथ इसका काथ पिलाते हैं तथा ठण्डे जल में पीसकर गाठों पर लेप करते हैं।

(३) दन्तशूल में इसका चूर्ण हींग के साथ दाँत के गढ़े में रखने से लाभ होता है तथा इसका मञ्चन में व्यवहार करते हैं। इसके मूल की छाल का भी इसमें उपयोग होता है।

(४) इसके कोमल पत्तों का सौँठ के साथ काथ बनाकर गले की सूजन, मुख के छाले एवं ग्रन्थ में कवल कराने से लाभ होता है।

(५) न्यूमोनिया तथा अन्य छाती के विकारों में चावल की माँड़ के साथ इसकी छाल को उबाल कर पिलाते हैं तथा छाल पीसकर छाती पर लेप करते हैं। इसके फलों को पीसकर मञ्चन के साथ छाती पर लगाने से फुफ्फुसावरण शोथ में लाभ होता है तथा शिरःशूल में भी इसी प्रकार कपाल में इसका लेप करते हैं।

३७ नाडी हिङ्गु (डिकामाली)

नाडीहिङ्गु पलाशाख्या जन्तुका रामठी च सा।

वंशपत्री च पिण्डाहा सुवीर्या हिङ्गुनाडिका ॥ रा. नि.

सं०—नाडीहिङ्गु, पलाशाख्या, जन्तुका, रामठी, वंशपत्री, पिण्डाहा, सुवीर्या, हिङ्गुनाडिका। हि०—नाडीहिङ्गु, नारीहींग, कलपतीहींग, डिकामाली, डिकेमाली, कमरी। ब०—हिङ्गुविशेष। म०—डिकेमाली। गु०—डीकामारी। काठी०—मालण, मालडी। क०—डिकामालि। ता०—कुवै। ते०—गेरिविक्कि, करिंगा, तेछामंगा। अ०—कनखाम। अं०—Gummy Gardema (गम्मी गार्डेनीया); Cambi resin (कम्बी रेसिन)। ले०—*Gardenia gummifera* Linn. (गार्डेनीया गम्मी-फेरा)। Fam. Rubiaceae (रुबिएसी)।

इसके वृक्ष अधिकतया दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। इसका वृक्ष—छोटा-तथा झाड़दार होता है। पत्ते—विनाल, ४'५-७'५ से २'५ से ० मी० बड़े, दीर्घवृत्ताभ आयताकार, स्वरूप में कुछ अमरूद के पत्तों के समान तथा चिकने, चमकीले होते हैं। फूल—सुगंधहीन, प्रारंभ में श्वेत किन्तु बाद में पीतवर्ण के १ से ३ साथ साथ रहते हैं। फल—२'५-३.८ से ० मी०, आयताकार या दीर्घ वृत्ताभ, चिकना, लंबाई में धारीदार एवं नोकदार होता है।

इन पौधों की कोमल शाखाओं के बीच तथा कलियों में से जाड़े के दिनों में हरियाली लिए हुए किञ्चित् पीले रंग का गोंद निकलता है। उसी को 'डीकामाली' कहते हैं। इसकी छाल से गोंद नहीं निकलता। जंगली गोंद लोग ठीकरों में इकट्ठा कर सुखा करके बाजार में बेचते हैं। इस गोंद में छोटी छोटी लकड़ियाँ, फूस घास आदि मिली रहती है अत एव इसे गरम जल में धोल, छान एवं सुखा करके औषधि के काम में लेना चाहिये। शुद्ध डिकामाली में बिलार के भूव जैसी गन्ध आती है तथा वह कुछ आर्द्र एवं चमकीला रहता है और उसके चूर्ण बनाने में कठिनाई होती है।

गुण

नाडीहिङ्गु कट्टणं च कफवातातिशान्तिकृत। विष्ठाविवन्धदोषघ्नमानाहामयहारि च (रा० नि०)

नाडीहिङ्गु—कट्ट, गरम, कफ और वात की पीड़ा को शमन करने वाली तथा विष्ठा, विवन्ध और आनाह रोग को नष्ट करने वाली है।

नाडीहिङ्गुस्तु कट्टकस्तीक्ष्णश्रोणश्च दीपकः।

कफवातमलस्तम्भमनोमोहामनाशनः ॥ (निघण्टुरत्नाकरः)

नाडीहिङ्गु—कट्ट, तीक्ष्ण, गरम, अग्निप्रदीपक तथा कफ, वात, मलबन्ध, मन का मोह और आम का नाश करनेवाली है।

रासायनिक संगठन—इसमें दो प्रकार के राल के सदृश पदार्थ रहते हैं जिसमें से गार्डेनिन् (*Gardenin*) रवेदार सुनहले पीले रंग का तथा दूसरा डिकेमाली (*Dil. erali*) कुछ सुलायम तथा हरे रंग का होता है।

गुण और प्रयोग—यह उद्वेघन निरोधि, वातानुलोमक, अग्निदीपक, विरेचक, कुमिष्ण, ज्वरहर, स्वेदजनन, श्लेष्मनिःसारक, त्वक् दोषहर एवं प्रतिदूषक है।

गुणों में वायविडङ्ग और डिकामाली बहुत समानता रखती है। किन्तु शाखों में विडङ्ग को कुमिष्ण लिखा है और डिकामाली के विषय में उसकी कुमिष्णता के गुण का स्पष्टीकरण नहीं किया

अथ तुम्बुरुफलस्य नामानि गुणाँश्चाह

तुम्बुरुः सौरभः सौरो घनजः सानुजोऽन्धकः ॥ ११३ ॥

तुम्बुरु प्रथितं तिक्तं कटुपाकेऽपि तस्फटु। रूक्षोऽणं दीपनं तीक्ष्णं रुच्यं लघु विदाहि च ॥ ११४ ॥
घातरलेषामासिकर्णौष्ठशिरोरुगुरुताकृमिन्। कुष्ठशूलारुचिश्वासप्लीहकृच्छ्राणि नाशयेत् ॥ ११५ ॥

'तुम्बुरु' फल के नाम तथा गुण—तुम्बुरु, सौरभ, सौर, घनज, सानुज और अन्धक ये नाम 'तुम्बुरु फल' के हैं। तुम्बुरु फल—तिक्त तथा कटुरस युक्त है और विपाक में भी कटुरस युक्त है। यह रूक्ष, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, तीक्ष्ण, रुचिजनक, पाक में लघु और विदाही होता है। यह वात-श्लेष्म, नेत्र, कर्ण, ओष्ठ तथा शिर के रोगों को एवं गुरुता (शरीर का भारीपन), कृमि, कुष्ठ, शूल, अरुचि, स्वास, प्लीहा और मूत्रकृच्छ्र इन सब रोगों को भी दूर करता है ॥ ११३-११५ ॥

३८ तुम्बुरु

हि०—तुम्बुरु, तुम्बुल, तेजफल। ब०—तम्बुल, तुम्बुरु-फल, नेपाली धने, नेपाली धनिया। म०—नेपाली धनियां। मा०—तूरारु। क०—तुम्बुरु। ते०—तुन्दुरलु। पं०—तुम्बर। गु०—तुम्बुरुफल। लिपचा०—तंमु कंग। ले०—*Zanthoxylum alatum Roxb.* (शैन्थोक्साइलम अलैटम); *Zanthoxylum acanthopodium DC.* (शैन्थोक्साइलम पकन्थोपोडियम) दूसरी जाति। Fam. Rutaceae (रूटसी)।

यह हिमालय की गरम तराईयों में जम्बू से भूटान तक, खासिया पहाड़, टेहरी, गढ़वाल, नाग पहाड़, विजिमापट्टम और गंजाम के पहाड़ों पर पाया जाता है।

इसका वृक्ष—शाईदार या क्वचित् छोटे वृक्षवत् रहता है। कटि—सीधे, १-२ से. मी. लंबे एवं अंडाकार आधार के ऊपर रहते हैं। पत्ते—संयुक्त लंबे पत्र दण्ड वाले, एवं आधार की तरफ संपन्न तथा गुलाबी एवं सीधे काँटों से युक्त होते हैं। पत्रक—५ से ११, भालाकार, न्यूनाधिक दन्तुर, ऊपर से चमकीले एवं नीचे से हल्के रंग के होते हैं। छोटे छोटे पीले रङ्ग के फूलों के गुच्छे लगते हैं। फल—काली मरिच के समान झुमकों में रहते हैं, किन्तु उनके मुख फटे होते हैं। फलों में सुगन्धि आती है। इन फलों के ऊपर तेलिया राल की गाँठ

होती है तथा इनके अन्दर कागज के समान पड़दा रहता है। फल प्रायः खाली रहते हैं किन्तु कभी कभी उनके अन्दर गोल, काले चमकीले बीज रहते हैं। उत्तर हिन्दुस्तान में इसका व्यवहार किया जाता है। दक्षिण में इसके स्थान पर ले०-शं. हेटसा (Z. rhetsa DC.), हि०-चिरफल, तिरफल, के फल का व्यवहार किया जाता है जो तुम्बुरु के फल से बड़े होते हैं। उन पर तेलिया राल की गाँठें तथा अन्दर कागज के समान पड़दा नहीं रहता। उनका स्वाद चटपटा अक्रकरहा के समान एवं गन्ध संतरे के छिलके के समान होती है।

रासायनिक सङ्गठन—इसकी छाल में एक कड़वा पदार्थ, उड़नशील तैल और राल रहती है। यह कड़वा पदार्थ दारुहरिद्रा में पाये जाने वाले बर्बेरीन (Berberine) के सदृश होता है। इसके फलों में एक उड़नशील तैल, राल, एक अम्ल पदार्थ और एक रवेदार पदार्थ शैन्थोक्साइलिन (Xanthoxylin) पाया जाता है। यह तैल यूकैलिप्टस (Eucalyptus) तैल के सदृश गन्ध एवं गुणवाला होता है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, उष्ण, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, माही और उत्तेजक है। इसकी क्रिया गन्धाविरोधा तथा यूकैलिप्टस तैल के समान होती है। इसके छाल की क्रिया दारुहरिद्रा के समान होती है।

(१) ज्वर, कुपचन, अतिसार, हैजा एवं मंदाग्नि आदि में इसके मूलत्वक् और फल का फाँट उत्तेजक तथा बल्य औषध के रूप में दिया जाता है।

(२) दमें में इसका गुडाखू बना कर धूपपान उपयोगी है।

(३) गले की सूजन में इसके ताजे पत्तों को धीस कर चावल के आटे के साथ गरम करके बांधने से लाभ होता है।

(४) यह एक अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) होने के कारण व्रणों के लिये इसके फलों का आन्तरिक तथा बाह्य प्रयोग किया जाता है। इसके मूलत्वक् काथ से व्रण प्रक्षालन से लाभ होता है।

(५) इसके फलों का व्यवहार दन्तशूल में किया जाता है। इसकी दातुन दाँतों के लिये अच्छी समझी जाती है एवं छाल तथा फल का दन्तमजनों में प्रयोग किया जाता है।

(६) इसका तैल प्रतिदूषक, कीटाणुनाशक तथा दुर्गन्धिहर है।

मात्रा—फल—२-५ र., छाल—१-२ तो. फाँट बना कर।

३९ तिरफल

सं०—तुंबुरु। म०—चिरफल, तिसल। ते०—इरतवे। ता०—राचामसु। क०—जिसुमी मारा। ले०—*Zanthoxylum rhetsa DC* (शैन्थोक्साइलम हेटसा)। Fam. Rutaceae (रूटसी)।

यह मध्यम ऊँचाई का काटीला वृक्ष दक्षिण में विशेषकर कोंकण में होता है। इसके पत्ते—सदलपर्ण एवं मोटी टहनियों के अग्र पर समूहबद्ध होकर रहते हैं। पत्रक—प्रायः १५-२५, तून के सदृश, आयताकार या प्रासवत्, अखण्ड या गोल दन्तुर धार वाले होते हैं। पुष्प—छोटे, पीले, गुच्छों के रूप में। फल—गुच्छों के रूप में, कधी अवस्था में हरे तथा बाद में काले से हो जाते हैं। अन्य वर्धन ऊपर तुम्बुरु के साथ दिया गया है। इसके फल तथा जड़ की छाल का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक सङ्गठन—तुम्बुरु के समान तैल, राल आदि।

गुण और प्रयोग—इसके गुण तुम्बुरु के समान हैं। इसके मूलत्वक् की क्रिया दारुहरिद्रा, मंझेरियुन, चोबेह्यात या पीतचम्पक के छाल की तरह होती है। इसकी जड़ सुगन्धि, कड़वी, मूत्रल तथा पौष्टिक है।

(१) इसके फल उत्तेजक, ग्राही, दीपन एवं पाचन होते हैं और इनका व्यवहार, आध्मान, कुपचन, अजीर्ण एवं अतिसार आदि में किया जाता है। सड़ी हुई मछलियों के खाने से उत्पन्न अजीर्ण, वमन एवं अतिसार में इसका व्यवहार करते हैं। मछली खाने वालों के लिये यह पाचक है। तिरफल तथा अजवायन का अर्क हैजे में दिया जाता है। आमवात में मधु के साथ इसे खिलाते हैं।

(२) मूलत्वक्—शिथिलताजन्य कुपचन में प्रयोग में लाई जाती है। यह मूत्रल होती है। दन्तशूल में तथा लकवा से जिह्वा का कार्य ठीक न होता हो तो इसे चबाने को देते हैं। जीर्ण आमवात में भी इससे लाभ होता है। यह वृष्य, कड़वी और सुगन्धि होती है और फल की तरह भी इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—बीज निकाले फल का चूर्ण—१-२ र. मधु के साथ; मूलत्वक् १-२ तो. फांट बना कर नित्य एक बार।

अथ वंशलोचनस्य नामानि गुणांश्चाह

स्याद्दंशरोचना वांशी तुगाक्षीरी तुगाशुभा । स्वक्षीरी वंशजा शुभ्रा वंशक्षीरी च वैणवी ॥
वंशजा वृंहणी वृष्या बल्या स्वाद्दी च शीतला । तृष्णाकासज्वरश्वासक्षयपित्तास्रकामलाः ॥
हरेरुकुष्ठं व्रणं पाण्डुं कषाया वातकृच्छ्रजित् ॥ ११७ ॥

वंशलोचन के नाम तथा गुण—वंशरोचना, वांशी, तुगाक्षीरी, तुगा, शुभा, स्वक्षीरी, वंशजा, शुभ्रा, वंशक्षीरी और वैणवी ये नाम वंशलोचन के हैं। वंशलोचन—वृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक, स्वादु, कषाय रसयुक्त और शीतल होता है और यह तृष्णा, कास, ज्वर, श्वास, क्षय, रक्तपित्त, कामला, कुष्ठ, व्रण, पाण्डु, वात तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करता है ॥

४० वंशलोचन

हि०—वंशलोचन, वंशलोचन । ब०—बांस काबर । म०—वंसलोचन । गु०—वंशकपूर ।
बांसकपूर । क०—वंशलोचना, वंशरोचना, वंशरोचना । ते०—तवक्षीरी, तरक्षीरी, वंशलोचनमु ।
ता०—वंशलोचनम् । फा०—तवासीर, तवासीर । अ०—तवाशीर । अं०—Bamboo Manna
(बान्बुमन्ना) । ले०—*Bambusa arundinacia Willd* (बांबुजा अरुण्डिनेसिया) । Fam-
Gramineae (ग्रॅमिनी) ।

बांस के वृक्ष भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रांतों में उत्पन्न होते हैं, विशेषकर बङ्गाल की तरफ इसकी खेती होती है।

मोटे और दृढ बांस के भीतर एवं बड़े मोटे पौली जाती के पहाड़ी बांसों के भीतर जिसे नजला बांस कहते हैं जब सफेद रस सुखकर कंकर के समान बन जाता है, तब इस सफेद कंकर को वंशलोचन कहते हैं। यह केवल मादा जाति के ही बांसों में जमता है। बांसों को

काट कर जब फाड़ते हैं तब किसी-किसी बांस के भीतर से यह निकलता है। कहते हैं कि स्वाती नक्षत्र का जल बांस के भीतर पड़ने से उसमें वंशलोचन उत्पन्न होता है। असली वंशलोचन नीलापन युक्त सफेद रङ्ग का होता है, लकड़ी पर घिसने पर रेशा नहीं उभरती तथा जल में डालने पर पारदर्शक हो जाता है लेकिन मिट्टी के तेल में डालने पर पारदर्शकता कम हो जाती है। स्वाद में यह फीका होता है। लेकिन आजकल बाजार में प्रायः नकली वंशलोचन ही विकता है जो देखने में बहुत सुन्दर नीली आभा युक्त बड़े-बड़े कंकड़ों के रूप में होता है। पहले असली वंशलोचन जावा, सिङ्गापुर आदि से आता था। अब तो शायद किसी रासायनिक विधि से यह तैयार करके असली के नाम पर बिका करता है जिसका स्वाद कुछ तीक्ष्ण रहता है। वंशलोचन के अतिरिक्त बांस के कोमल प्रांकर, पत्र, गांठ, बीज तथा मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—वंशलोचन में सिलिका (Silica) ९०% या सिलिसिक् एसिड के हाइड्रेट के रूप में सिलिकम् (Silicium as hydrate of silicic acid), मंडूर (Peroxide of iron), पोटैश (Potash), चूना, अल्युमिनिया (Alumina) तथा कुछ वानस्पतिक पदार्थ जैसे कोलिन (Colin), बिटेन (Betain), न्यूक्लियस (Nuclease), यूरियस (Urease), प्रभूजिन एवं कार्बोज के पाचक किण्व तथा स्नेहविलेयक किण्व (Proteolytic, diastatic and emulsifying enzymes) तथा सायनोजेनेटिक ग्लूकोसाइड (Cyanogenetic glucoside) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

बांस की राख में सिलिका २८, चूना ४, मॅग्नेशिया ६, पोटैशियम् ३४, सोडियम् १२, क्लोरीन २, गंधक १० भाग और कुछ जल रहता है। कुछ लोग इसके क्षार को तथा असली वंशलोचन को गरम करके जल में डालते हैं और सूखने पर वंशलोचन के स्थान पर बेचते हैं।

गुण और प्रयोग—(१) वंशलोचन उत्तेजक, ज्वरहर, कफनिःसारक, बल्य, वृष्य, प्यास-शमन करने वाला, उद्वेघननिरोधि एवं ग्राही होता है। इससे श्वसनसंस्थान की इलेम्पलकला को पुष्टि मिलती है तथा कफ की मात्रा कम होती है। इससे बने डुप सितोपलादि चूर्ण का व्यवहार जीर्णज्वर, श्वास, कास, क्षय, मन्दाग्नि, कमजोरी, कफ में खून जाना, दाह, पूयमेह, मूत्रदाह तथा वातविकार एवं सर्पदंश में किया जाता है। ग्राही औषधियों के साथ जीर्ण संग्रहणी तथा आन्तरिक रक्तस्रावों में इसका उपयोग करते हैं।

(२) इसकी कोमल गांठ तथा पत्रों का छाथ गर्भाशय संकोचक होता है। इसका उपयोग प्रसूता में आर्तवशुद्धि के लिए एवं अन्य आर्तव विकारों में किया जाता है।

(३) इसके कोमलपत्र का उपयोग कफ से खून जाना, कुष्ठ, ज्वर तथा बच्चों के सूत्रकृमि में किया जाता है।

(४) इसके प्रांकर (Shoots) का रस निकाल कर कृमियुक्त धावों पर डाला जाता है तथा बाद में उसका पोस्टिस उन पर बांध दिया जाता है। जिन लोगों का पाचन ठीक नहीं होता उनको इसके कोमल प्रांकरों से बने सिरके का उपयोग मांस मछली के साथ उपयोगी होता है। इससे भूख बढ़ती है तथा पाचन भी ठीक होता है।

(५) इसकी गांठों को पीसकर जोड़ों के दर्द पर उसका बन्धन उपयोगी है।

(६) इसके बीज को गरीब लोग चावल के रूप में खाते हैं।

(७) इसका मूल विस्फोटक व्याधियों (Eruptive affections) में बहुत उपयोगी है तथा दाद पर लाभदायक है।

(८) इसके गुणरस का उपयोग कर्णबिन्दु के रूप में कर्णशूल एवं बाधिर्य आदि में किया जाता है ।

मात्रा—चूर्ण ३-२ माशा ।

अथ समुद्रफेनस्य नामानि गुणांश्चाह

समुद्रफेनः फेनश्च हिण्डीरोऽब्धिकफस्तथा ॥ ११८ ॥

समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलश्च सः । कषायो विषपित्तघ्नः कर्णरक्तफहरसरः ॥ ११९ ॥

समुद्रफेन के नाम तथा गुण—समुद्रफेन, फेन, हिण्डीर और अब्धिकफ ये सब नाम 'समुद्र-फेन' के हैं । समुद्रफेन—नेत्रों के लिये क्षितकर, लेखन, शीतल, कषाय रस युक्त, विष और पित्त का नाशक, कर्णरोग तथा कफ का भी नाशक और यह सारक भी होता है ॥ ११८-११९ ॥

४१ समुद्रफेन

हि०—समुद्रफेन, समुन्दरफेन, दर्या का कफ । ब०—समुद्रेर फेना, समुद्रफेला । म०—समुद्रफेन । मा०—समन्दरझाग । पं०—समुन्द्रझाग, समुद्रझाग । गु०—समुद्रफेन । क०—समुद्रनालिंगे । म०, ता०—कडल नीरे । ते०—सोरपेनक, समुद्रपुनरुयु । फा०—कफदरिया । अ०—जुबदुल्लबेरे, जम्बुल बहेर । अं०—Cuttle Fish Bole (कटिल फिश बोन); Os Sepiae (ऑस् सेपी) । ले०—Sepia officinalis (सेपिया ऑफिसिनैलिस्) । जाति (Family)—Cephalopoda (सिफे-ओपोडा) । वर्ग (Class)—Mollusca (मील्यूस्का) ।

समुद्रफेन यह समुद्र का झाग नहीं है वरन् यह एक समुद्री जीव (मछली) का अस्थिपञ्जर (या कवच) है जो कुछ समय बाद विशेष आकृति का हो जाता है और समुद्र के पानी पर तैरता रहता है । इसके टुकड़े १-२ इञ्च चौड़े और ५-१० इञ्च लम्बे होते हैं । ये लम्बे, चिपटे, आयताकार अथवा अण्डाकार, सफेदी लिये हुवे, कठोर तथा मंथुर होते हैं । इसकी बाह्य सतह कई परतों से बनी दिखलाई देती है तथा सुचूर्ण्य होती है । भीतरी सतह कठोर, सुधिर एवं आसानी से टूटने वाली होती है । इसका स्वाद फीका, तीक्ष्ण तथा क्षारीय होता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें कैल्शियम् कार्बोनेट (Calcium Carbonate) ८०-८५% तथा फास्फेट, सल्फेट और सिलिका (Silica) आदि पदार्थ रहते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत कम होता है । यह खड़िया के समान अम्लत्व दूर करने वाला तथा ग्राही एवं स्थानिक उपशामक है ।

(१) इसका सूक्ष्म चूर्ण कर्णश्राव तथा कर्णपीडा के लिए कानों में डालते हैं । मुख तथा दातों के विकारों में यह दन्तमञ्जन की तरह उपयोग में आता है तथा झाँड़े, मुहाँसे, व्यंग तथा चर्म के अन्य विकारों में इसका सूक्ष्मचूर्ण या नीबू के रस के साथ इसका लेप लगाया जाता है । अम्हीरी में गुलाब जल के साथ शरीर पर इसे लगाते हैं ।

(२) इसका नेत्र रोगों में विशिष्ट स्थान है । लेखन गुण के कारण नेत्रशुक्ल, जाला, धुंभ आदि में सुरमा के समान या सुरमा में मिलाकर इसे काम में लाते हैं । वर्तमान में इसे गुलाब जल और सैन्धव के साथ महीन पीसकर आंख में लगाते हैं ।

(३) कर्णश्राव में इसे तैल में सिद्ध करके उसका उपयोग करते हैं ।

(४) यद्यपि आयुर्वेद में इसका आन्तरिक प्रयोग नहीं दिखाई देता तथापि यह चूने का अच्छा सेन्द्रिय योग है जिसका आन्तरिक उपयोग भी किया जा सकता है ।

मात्रा—२ से ८ रत्ती ।

अथाष्टवर्गस्य लक्षणगुणानाह

जीवकर्षभकौ मेदे काकोली श्रद्धिवृद्धिके ॥ १२० ॥

अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः ॥ १२१ ॥

अष्टवर्गो हिमः स्वादुर्बृहणः शुक्रलो गुरुः । भग्नसन्धानकृत्कामबलासबलवर्द्धनः ॥ वातपित्तास्रवृद्धाहज्वरमेहक्षयप्रणुत् ॥ १२२ ॥

अष्टवर्ग के लक्षण तथा गुण—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, श्रद्धि और वृद्धि इन सब आठ द्रव्यों को चरकादि मुनिगण 'अष्टवर्ग' नाम से व्यवहार करते हैं । अष्टवर्ग—शीतवीर्य, स्वादिष्ट, बृंहण (धातुवर्धक), शुक्रजनक, विपाक में गुरु, भग्नसन्धानकारक (टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला), काम, कफ तथा बल को बढ़ाने वाला, वात, पित्त, रक्त, तृष्णा, दाह, ज्वर, प्रमेह और क्षय रोग को दूर करने वाला होता है ॥ १२०-१२२ ॥

तत्रादौ जीवकर्षभकयोरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

जीवकर्षभकौ ज्ञेयो हिमाद्रिशिखरोद्भवौ । रसोनकन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ ॥ १२३ ॥ जीवकः कूर्चकाकार ऋषभो वृषशृङ्गवत् । जीवको मथुरः शृङ्गो हस्वाङ्गः कूर्चशीर्षकः ॥ १२४ ॥ ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि । जीवकर्षभकौ बर्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ ॥ मथुरौ पित्तदाहास्रकार्श्यवातक्षयापहौ ॥ १२५ ॥

अष्टवर्गान्तर्गत जीवक तथा ऋषभक के उत्पत्ति स्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—जीवक और ऋषभक ये दोनों औषधियाँ हिमालय पर्वत के शिखर के ऊपर उत्पन्न होती हैं । इन दोनों के कन्द ठीक लहसुन के कन्द के समान होते हैं और ये निःसार होते हैं तथा पत्ते सूक्ष्म होते हैं । उसमें जीवक का आकार कूची के समान होता है और ऋषभक बैल के सींग की भाँति होता है । जीवक, मथुर, शृङ्ग, हस्वाङ्ग और कूर्चशीर्षक ये नाम जीवक के हैं । तथा ऋषभ, वृषभ, धीर, विषाणी और द्राक्ष ये नाम ऋषभक के हैं । ये दोनों बलकारक, शीतवीर्य, शुक्र तथा कफ के वर्धक, मथुर रसयुक्त, पित्त, दाह, रक्तदोष, कुशता, वात तथा क्षयरोग के दूर करने वाले होते हैं ॥ १२३-१२५ ॥

अथ मेदा महामेदयोरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

महामेदाऽभिघ्नः कन्दो मोरङ्गादौ प्रजायते ॥ १२६ ॥

महामेदा वनीमेदा स्यादियुक्तं मुनीश्वरैः ॥ १२७ ॥

शुक्लार्द्रकनिभः कन्दो लताजातः सुपाण्डुरः । महामेदाभिधो ज्ञेयो मेदालक्षणमुच्यते ॥ शुक्लकन्दो नखच्छेद्यो मेदोधातुमिव स्रवेत् । यः स मेदेति विज्ञेयो जिज्ञासात्परिर्जनैः ॥ शक्यपर्णी मणिच्छिद्रा मेदा मेदाभवाध्वरा । महामेदा वसुच्छिद्रा त्रिदन्ती देवतामणिः ॥ मेदायुगं गुरु स्वादु वृष्यं स्तन्यकफावहम् । बृंहणं शीतलं पित्तरक्तवातज्वरप्रणुत् ॥ १२९ ॥

मेदा और महामेदा के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—उसमें 'महामेदा' नामक कन्द मोरङ्ग (नेपाल का दक्षिणपूर्वभाग) आदि प्रदेशों में उत्पन्न होता है। महामेदा, बनीमेदा है ऐसा मुनीश्वरों ने कहा है। महामेदा लता से उत्पन्न होती है तथा इसका कन्द पाण्डुवर्ण का, सफेद अदरक के समान होता है। ये महामेदा के लक्षण हुये, अब मेदा के भी लक्षण कहते हैं—जिसके कन्द सफेद हों तथा जिसमें नख से काटने पर मेदातु के समान एक प्रकार का रस निकलता हो उसे मेदा समझना चाहिये। शल्यपर्णी, मणिच्छिद्रा, मेदा, मेदोभवा और अध्वरा ये नाम मेदा के हैं। महामेदा, वसुच्छिद्रा, त्रिदन्ती और देवतामणि ये नाम महामेदा के हैं। उक्त दोनों प्रकार का मेदा—ये दोनों परिपाक में गुरु, स्वादिष्ट, वीर्यवर्धक, दुग्ध तथा कफ को बढ़ाने वाले, धातुवर्धक, शीतल, पित्त, रक्तसम्बन्धी दोष, वायु तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं ॥ १२६-१२९ ॥

अथ काकोलीक्षीरकाकोल्योरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

जायते क्षीरकाकोली महामेदोद्भवस्थले ॥ १३२ ॥

यत्र स्यात्क्षीरकाकोली काकोली तत्र जायते ।

पीवरीसदृशः कन्दः सक्षीरः प्रियगन्धवान् ॥ १३३ ॥

साप्रोक्ताक्षीरकाकोली काकोलीलिङ्गमुच्यते । यथास्यात्क्षीरकाकोली काकोल्यपि तथा भवेत् ॥
पृषा किञ्चिद्भवेत्कृष्णा मेदोऽयमुभयोरपि । काकोली वायसोली च वीरा कायस्थिका तथा ॥

सा शुक्ला क्षीरकाकोली वयस्था क्षीरवल्लिका ॥

कथिता क्षीरिणी धीरा क्षीरशुक्ला पयस्विनी ॥ १३६ ॥

काकोलीयुगलं शीतं शुक्लं मधुरं गुरु । वृहणं वातदाहान्नपित्तशोषज्वरापहम् ॥ १३७ ॥

काकोली तथा क्षीरकाकोली के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—महामेदा के उत्पन्न होने का जहाँ स्थान है, वहीं पर क्षीरकाकोली भी उत्पन्न होती है। और जहाँ पर क्षीरकाकोली उत्पन्न होती है, वहाँ पर काकोली भी होती है। क्षीरकाकोली का कन्द पीवरी (शतावर) के समान होता है और काटने पर उसमें से दूध निकलता है तथा यह प्रिय गन्ध से युक्त होता है। अब काकोली के लक्षण कहते हैं—जिस प्रकार की क्षीरकाकोली होती है उसी प्रकार की काकोली भी होती है। किन्तु दोनों में भेद यह है कि काकोली, क्षीरकाकोली की अपेक्षा कुछ कृष्णवर्ण की होती है। काकोली, वायसोली, वीरा और कायस्थिका ये नाम काकोली के हैं और शुक्ला, क्षीरकाकोली, वयस्था, क्षीरवल्लिका, क्षीरिणी, धीरा, क्षीरशुक्ला और पयस्विनी ये नाम क्षीरकाकोली के हैं। उक्त दोनों प्रकार की काकोली—शीतल, शुक्रवर्धक, मधुर, गुरु, बृहण (धातुवर्धक), वात, दाह, रक्तपित्त (या रक्तदोष तथा पित्त), शोष और ज्वर की नाशक होती है ॥ १३२-१३७ ॥

अथ ऋद्धिवृद्धयोरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

ऋद्धिवृद्धिश्च कन्दौ द्वौ भवतः कोशलेऽचले ॥ श्वेतलोमान्वितः कन्दो लताजातः सरन्ध्रकः ॥
स एव ऋद्धिवृद्धिश्च भेदमप्येतयोश्चुवे । तुलग्रन्थिसमा ऋद्धिर्वाभावर्त्तफला चसा ॥ १३९ ॥

वृद्धिस्तु दक्षिणावर्त्तफला प्रोक्ता महर्षिभिः ।

ऋद्धियोग्यं सिद्धिलक्ष्यौ वृद्धेरप्याह्वया इमे ॥ १४० ॥

१. 'क्षीरं' स्वप्तिगन्धवानिति पाठा० ।

२. 'धीरे'ति पाठा० ।

३. 'कोशयामले' इति पाठान्तरम् ।

४. 'ऋद्धियुग्ममिति' पाठा० ।

ऋद्धिर्बल्या त्रिदोषघ्नी शुक्ला मधुरा गुरुः ।

प्राणेश्वर्यकरी मूर्च्छारक्तपित्तविनाशिनी ॥ १४१ ॥

वृद्धिर्गर्भप्रदा शीता वृहणी मधुरा स्मृता ।

वृष्या पित्तास्रशमनी क्षतकासक्षयापहा ॥ १४२ ॥

ऋद्धि तथा वृद्धि के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—ऋद्धि और वृद्धि ये दोनों कन्द कोशले पर्वत में उत्पन्न होते हैं। ऋद्धि का कन्द सफेद रोंये से युक्त, लता से उत्पन्न होने वाला तथा छिद्रों से युक्त होता है। और वृद्धि भी इसी प्रकार की होती है, किन्तु इन दोनों का जो परस्पर भेद है उसे अब कहता हूँ—ऋद्धि कपास की गांठ के समान आकार वाली तथा शायं तरफ से आवर्त्तशील फल वाली होती है। और वृद्धि—दहिने तरफ से आवर्त्तशील फलवाली होती है ऐसा महर्षि लोग कहते हैं। उक्त दोनों प्रकार की ऋद्धि (ऋद्धि-वृद्धि) के योग्य, सिद्धि और लक्ष्मी ये तीन नाम हैं। ऋद्धि-बलकारक, त्रिदोष को दूर करने वाली, शुक्रवर्धक, मधुर रस युक्त, पाक में गुरु और प्राणप्रद, ऐश्वर्यजनक, एवं मूर्च्छा और रक्त पित्त को नाश करने वाली होती है। वृद्धि-गर्भजनक, शीतल, बृहण (धातुवर्धक), मधुर रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), रक्तपित्त को शमन करने वाली, क्षत (उरःक्षतादिक), कास तथा क्षय को दूर करने वाली होती है ॥ १३८-१४२ ॥

राजामप्यष्टवर्गस्तु यतोऽयमतिदुर्लभः ।

तस्मादस्य प्रतिनिधिं गृह्णीयात्तद्गुणं भिषक् ॥ १४३ ॥

साधारण लोगों को कौन कहे अष्टवर्ग की उक्त औषधियाँ राजाओं को भी दुर्लभ हैं। अतः वैद्य को चाहिये कि वे इसके समान गुण वाली प्रतिनिधि औषधियों को काम में लावें ॥ १४३ ॥

ॐमुख्यसदृशः = प्रतिनिधिः ॥ १४३ ॥

यहाँ पर 'प्रतिनिधि' पद का 'मुख्य के सदृश' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४३ ॥

अथाष्टवर्गस्य प्रतिनिधिमाह

मेदाजीवककाकोलीऋद्धिद्वन्द्वेऽपि चासति ।

वरीविदार्यश्वगन्धावाराहीश्चक्रमात् क्षिपेत् ॥ १४४ ॥

अष्टवर्ग की प्रतिनिधि औषधियाँ—दोनों प्रकार की मेदा, दोनों प्रकार के जीवक, दोनों प्रकार की काकोली तथा दोनों प्रकार की ऋद्धि के स्थान में क्रम से शतावर, विदारीकन्द, असगन्ध और वाराहीकन्द इन औषधियों को डालना चाहिये ॥ १४४ ॥

ॐमेदामहामेदास्थाने क्रमावरीमूलम् । जीवकर्षभकस्थाने विदारीमूलम् । काकोली-क्षीरकाकोलीस्थाने अश्वगन्धामूलम् । ऋद्धिवृद्धिस्थाने वाराहीकन्दं गुणैस्तत्तुल्यं क्षिपेत् ॥ १४४ ॥

यहाँ पर 'मेदा और महामेदा के स्थान में शतावर का मूल, जीवक तथा ऋषभक के स्थान में विदारीकन्द का मूल, काकोली तथा क्षीरकाकोली के स्थान में असगन्ध का मूल, एवं ऋद्धि तथा वृद्धि के स्थान में वाराही कन्द को गुणों में पूर्वोक्त औषधियों के समान समझकर डालें' ऐसा समझना चाहिये ॥ १४२ ॥

४२ अष्टवर्ग

नाम	उत्पत्तिस्थान	सामान्यरूप	परस्पर पार्थक्य	शा० प्रतिनिधि
१ जीवक	हिमालय पर्वत शिखर	कन्द-रसोन के समान पत्र-सूक्ष्म सारहीन	कूची के समान	विदारीकन्द
२ ऋषभक			बैल के सींग के समान	"
३ मेदा	मोरङ्ग (नेपाल का दक्षिण- पूर्व भाग)	कन्द-भेद के सदृश झाव नख से छेद्य	शुक्लवर्ण	शतावरी मूल
४ महाभेदा			कन्द-शुक्ल आर्द्रक के समान, लताजात	पाण्डुरवर्ण
५ काकोली	"	कन्द-शतावरी सदृश सक्षीर सुगन्धयुक्त	अधिक कृष्णवर्ण	अश्वगंधा का मूल
६ क्षीरका- कोली			कम कृष्णवर्ण	"
७ ऋद्धि	कोशलपर्वत	कन्द-श्वेतलोमयुक्त लताजात छिद्रयुक्त	कपास की गांठ के समान वामा- वर्तफल	वाराहीकन्द
८ वृद्धि	"	"	दक्षिणावर्तफल	"

इस समय अष्टवर्ग की कोई भी औषधि सच्ची नहीं मिलती है। यों तो अष्टवर्ग के बेचनेवाले कितने फर्म हो गये हैं, इनमें 'अष्टवर्ग कार्यालय देहरादून' प्रसिद्ध है परन्तु अष्टवर्ग के देखने और शाखा से मिलान करने से कोई भी असली नहीं सिद्ध होती। अष्टवर्ग के अभाव में मेदा-महाभेदा की जगह शतावर, जीवक-ऋषभक की जगह विदारीकन्द, काकोली-क्षीरकाकोली की जगह असगन्ध और ऋद्धि-वृद्धि की जगह वाराहीकन्द ढालने को कहा गया है। परन्तु आजकल के कतिपय विद्वान् वैद्य शतावर, विदारीकन्द, असगन्ध और वाराहीकन्द को अष्टवर्ग का प्रतिनिधि नहीं मानते। क्योंकि इनमें अष्टवर्ग का अत्यन्त न्यून गुण पाया जाता है। इसलिये अष्टवर्ग की जगह निम्नांकित औषधियां देना उत्तम बतलाते हैं।

जीवक	अभाव में	बहमन सफेद या गुड़ची
ऋषभक	"	बहमन लाल या लम्बा सालब या वंशलोचन
मेदा	"	सालमिश्री
महाभेदा	"	शकाकुल मिश्री या प्रसारिणी
काकोली	"	काली मूसली
क्षीरकाकोली	"	श्वेत मूसली
ऋद्धि	"	चिड़िया कन्द या बला या उटङ्गण के बीज
वृद्धि	"	सालब पंजा या महाबला या बीजवंद

अथ यष्टीमधुनामगुणानाह

यष्टीमधु तथा यष्टीमधुकं क्लीतकं तथा । अन्यस्वलीतनकं तसु भवेत्तोये मधूलिका ॥ १४५ ॥
यष्टी हिमा गुरुः स्वःहो चक्षुष्या बलवर्णकृत । सुस्निग्धा शुक्ला केश्या स्वर्षा पित्तानिलाक्षजित् ।
व्रणशोथविषचङ्गदिवृण्णाग्लानिचयापहा ॥ १४६ ॥

मुलहठी के नाम तथा गुण - यष्टीमधु, यष्टीमधुक और क्लीतनक ये सब मुलहठी के नाम हैं। और अन्य प्रकार की भी एक मुलहठी होती है जो कि जल में उत्पन्न होती है जिसका नाम 'मधूलिका' है। मुलहठी—शीतवीर्य, गुरु, मधुररसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, बलकारक तथा वर्ण को सुन्दर करने वाली, सुस्निग्ध, वीर्यजनक, केशों के लिये हितकर, स्वर को सुधारने वाली, पित्त, वात तथा रक्त के प्रकोप को शमन करने वाली, व्रण, शोथ, विष, वमन, प्यास, ग्लानि तथा क्षय रोग को दूर करने वाली होती है ॥ १४५-१४६ ॥

४३ यष्टीमधु

हि०—मुलहठी, मुलेटी, मुलेठी, मीठी लकड़ी, जेठीमधु । ब०—यष्टिमधु । म०—जेष्टिमधु । गु०—जेठीमधु । क०—जेष्टिमधु । ते०—यष्टिमधुकम । पं०—मुलेटी । मा०—मलहठी । ता०—अतिमधुर । फा०—आसरेहमहक, बिलेमहक । अ०—असलसूस । अं०—Liquorice Root (लिक्वोरिस रूट) । ले०—*Glycyrrhiza glabra*, Linn. (ग्लिससहाइशा ग्लेब्रा, लिन.) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

इसका क्षुप अरब, फारस की खाड़ी, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान एवं साइबेरिया आदि स्थानों में उत्पन्न होता है। इसकी उपज पंजाब तथा चेनाब से लेकर पेशावर आदि हिमालय के निचले हिस्से में तथा अंडमान द्वीप एवं बर्मा में होती है। बल्किस्तान तथा चिनाल में भी यह उत्पन्न होता है। काश्मीर में बरमूडा घाटी में इसको उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त हुई है।

इसका क्षुप २-४ फुट ऊँचा होता है। पत्रक-छोटे, ४ से ७ जोड़े, आयताकार से चौड़ाई लिये हुवे मालाकार; अपरिमित सदण्डिक पुष्प व्यूह; पुष्प-बैंगनीवर्ण के, लगभग ३ इंच लम्बे; फली-छोटी, बारीक, १-१ इंच लम्बी, चिपटी; बीज-बहुत या २-३ होते हैं। इसकी जड़ तथा भौमिक तने को सुखा कर छाल सहित अथवा छाल निकालकर बाजार में मुलेठी के नाम से बेचा जाता है। ये लम्बे टुकड़े, पीताभ बादामी रंग के सुरीदार होते हैं तथा छाल निकाले हुवे हलके पीले रंग के रेशेदार होते हैं। इनमें एक प्रकार की हल्की गन्ध तथा स्वाद मीठा होता है।

स्थान भेद से इसकी अन्य जातियां होती हैं जिनके स्वाद में अन्तर रहता है। यूनानी मत से ३ प्रकार की मुलेठी मानी गई है जिसमें से मिश्र की उत्तम, अरब की मध्यम तथा तुर्क वा फारस की अधम होती है जो उत्तरोत्तर कम मीठी होती हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सफेद, मीठा, रवेदार पदार्थ ग्लिससहाइड्रिन (Glycyrrhizin) ५-१०% पाया जाता है जिसमें ग्लिससहाइड्रिक एसिड (Glycyrrhizic acid) से बने चूना तथा पोटेशियम (Potassium) के लवण होते हैं। यह एसिड भी शुद्ध रवेदार होता है तथा इसका द्रवणांक २५° श० होता है। यह चीनी से ५० गुना अधिक मीठा होता है। गरम जल में ग्लिससहाइड्रिन का बना घोल ठंडा होने पर गाढ़ा हो जाता है। इसके अतिरिक्त मुलेठी में ५-१०% शर्करा, ३०% स्टार्च, प्रमुजिन, स्नेह, राल एवं अस्पेराजिन (Asparagin) करीब १% होता है।

५ मा० नि०

गुण और प्रयोग—मुलेठी मधुर, शीतल. स्नेहन, बल्य, वृष्य, रसायन, कफशामक, स्वर्य, नेत्र्य, मूत्रजनन, स्तन्यवर्धक, शोथहर एवं व्रणरोपक गुणों से युक्त होती है।

(१) इसमें स्नेहन तथा सौम्य कफ निःसारक गुण होने के कारण इसका मुख्य उपयोग स्वर-भंग, कास, श्वसनिका शोथ एवं गलशोथ आदि में किया जाता है। इसके लिये इसके टुकड़े को मुख में रख कर चूसने को दिया जाता है तथा तीसी के साथ इसके काथ का उपयोग किया जाता है।

(२) मीठी होने के कारण काथों को मधुर बनाने के लिये तथा अनेक औषधियाँ जैसे सनाय, एलुवा आदि को सुस्वादु बनाने के लिये तथा खांसी के लिये चूसने की गोलियों में इसका उपयोग करते हैं। इसके चूर्ण का उपयोग गोली बनाने में सहायक द्रव्य के रूप में व्यवहार में आता है।

(३) मूत्र मार्ग के प्रक्षोभ में यह बहुत उपयोगी है। इससे पेशाब की जलन दूर होती है।

(४) अम्लपित्त में इसके उपयोग से आमाशयिक अम्ल कम होकर शूल दूर होता है।

(५) चीन में इसका व्यवहार रसायन औषधि की दृष्टि से बहुत किया जाता रहा तथा अपने यहां भी इसे रसायन, बल्य तथा शुक्रल मानते हैं।

(६) इसका सत्त्व रब्बेसुस, जो काले रंग का तथा मीठा होता है, का व्यवहार खांसी एवं गले की तकलीफ आदि में चूसने के लिए किया जाता है।

(७) सुश्रुत में 'सर्वापघातशमनीय' योग में इसका अन्तर्भाव किया गया है। इस प्रकार सभी प्रकार के अभिघातों से उत्पन्न लक्षणों में इसका प्रयोग उत्तम माना गया है।

(८) इसका उपयोग क्षतक्षीण, रक्तवमन, हृद्रोग एवं अपरमार आदि में भी किया जाता है। दूध अथवा घृत और मधु के साथ इसको देना चाहिये।

(९) घृत के साथ इसके कल्क का प्रयोग घावों पर लगाने के लिये उपयोगी है। भिलावे से यदि त्वक्शोथ हो गया हो तो मुलेठी और तिल को दूध में पीस कर लेप करने से लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण—१-४ माशा।

अथ काम्पिलस्य नामगुणानाह

काम्पिलसः कर्कशाश्रुद्रो रक्ताङ्गो रोचनोऽपि च ॥

काम्पिलसः कफपित्ताक्षकृमिगुल्मोदरव्रणान् । हन्ति रेचो कटुपुष्पश्च मेहानाहविषारममुत् ॥
कबीला के नाम तथा गुण—काम्पिल, कर्कश, चन्द्र, रक्ताङ्ग और रोचन ये नाम कबीला के हैं। कबीला—कफ, रक्तपित्त, कृमि, गुल्म, उदररोग एवं व्रण (घाव) को दूर करता है। तथा यह रेचक (दस्तावर), कटु रस युक्त और उष्णवीर्य है। एवं प्रमेह, आनाह, विष तथा पथरी को नष्ट करने वाला होता है ॥ १५७ ॥

४४ काम्पिल (कबीला)

हि०—कबीला, कबीला, काम्बीला । **ब०**—कमिला, कमलागुरी । **म०**—शेन्द्रि कपिला । **गु०**—कबीली । **क०**—वंसार, चन्द्रहिट्टू । **पं०**—कमल । **ते०**—कुम्बुम् । **ता०**—कपिला रङ्ग, कपिला पोडि । **मला०**—पोनागम । **फा०**—कम्बिलाय, कमिलह, कम्बेला । **अ०**—कम्बील, किम्बील, वास । **अं०**—Kamala (कमला) । **ले०**—*Mallotus philippinensis*, Muell-

Arg. (मॅलोटस् फिलिपाइनेन्सिस, मुएल-आर्ग.) । *Fam.* Euphorbiaceae (यूफोर्बिएसी) ।

यह प्रायः सब गरम प्रान्तों में हिमालय पहाड़ के नीचे से पूरब की ओर सिन्ध से दक्षिण, बंगाल, ब्रह्मा, सिंगापुर, सिलोन एवं मलाया द्वीप समूह आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका सदा हरित वृक्ष—मध्यमाकार का २५-३० फीट तक ऊंचा होता है। छाल—चौथार्ह इंच मोटी, खाकी रङ्ग की फटी सी और भीतर से लाल दिखाई पड़ती है। पत्ते—गूलर के पत्तों के समान ३ से ९ इंच तक लम्बे, अंडाकार, नोकदार, विषमवर्ती और निम्न पृष्ठ रोमश रक्ताभ होते हैं। कार्तिक से पूस तक फूल फल आते हैं और उष्णकाल में फल पकते हैं। फूल—छोटे छोटे भूरा-पन युक्त लाल रङ्ग के आते हैं। फल—त्रिदल आकार में शरबेर के समान और पकने पर लाल रवेदार रज से ढका रहता है। इसी लाल रज को कबीला कहते हैं। बीज—चिकने, गोल और काले होते हैं।

'कबीला वायविडङ्ग की रज का नाम है' यह कहना भ्रमात्मक है। कबीला के बीजों को कहीं कहीं वायविडङ्ग की जगह व्यवहार में लाते हैं जो अनुचित है। वास्तव में वायविडङ्ग और कबीले के वृक्ष एक नहीं, दो भिन्न-भिन्न हैं।

इस वृक्ष के फलों के ऊपर के पराग (ग्रन्थि तथा रोम) को कबीला कहते हैं। फल पक जाने पर उनको कपड़े में ढालकर अथवा हाथ से रगड़ कर इसे अलग करते हैं। इस लाल बदामी रंग की बुकनी में न तो स्वाद होता है न गन्ध। इसमें से जो रोम, ग्रन्थि युक्त होते हैं उनका डण्ठल एक कोशा का (प्रायः नहीं रहता) तथा ऊपर का भाग गोल ४०-१०० म्यू व्यास का एवं २०-५० अण्डाकार या व्यस्तलट्वाकार कोषाओं से युक्त होता है। ये कोशाएँ एक आधारीय कोशा के ऊपर चक्राकाररूप में एक रातीय नियारस में ढकी हुई रहती हैं। बिना ग्रन्थि के रोम बहुत कम होते हैं जिनके अन्तिम भाग नुकीले तथा मुड़े हुये होते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें फल के छिलके एवं बालू के कण आदि पदार्थ मिले रहते हैं।

परीक्षा—इसमें यदि निशास्ता वा कुसुम्भ को मिलावट हो तो अणुवीक्षण यन्त्र से पहचान सकते हैं। लाल मिट्टी, बालू वा मण्डूर की मिलावट हो तो इसे जल में ढालने पर मिट्टी आदि नीचे बैठ जाती है। ऊपर जो बुकनी तैरती है उसे सुखाकर काम में लाना चाहिये। जल से भोगी हुई उंगली से शुद्ध कबीले को उठाकर सफेद कागज पर जोर से लकीर खींचने या रगड़ने से पीले रंग का निशान होता है। शुद्ध कबीले में राख ९% से अधिक नहीं होनी चाहिये तथा अम्ल में न धुल्लेवाली राख ६% से अधिक नहीं होनी चाहिये। ईथर में धुल्ले वाले सत्व जो उडनशील नहीं होते, उनकी शुष्क अवस्था में मात्रा ६६% से कम न होनी चाहिये। यह शीत जल में अधुलनशील, उष्णजल में अल्प धुलनशील एवं क्षार, मथसार और ईथर में धुलनशील होता है, जिससे लाल रंग का धोल बनता है।

रासायनिक संगठन—इसमें रोटलेरिन् (*Rottlerin*, $C_{31}H_{30}O_8$) नामक एक रवेदार पदार्थ से युक्त एक बदामी लाल रंग की राल होती है। यह ईथर में धुलनशील तथा जल में अधुलनशील होती है। इसके अतिरिक्त अइसो-रोटलेरिन् (*Iso-rottlerin*) नामक पदार्थ रहता है जो शायद रोटलेरिन् का अशुद्ध स्वरूप है। इनके अतिरिक्त इसमें पीले रवेदार पदार्थ, पीली और लाल राल एवं मोम आदि रहते हैं। अल्प मात्रा में उडनशील तैल, स्टार्च, शर्करा, टैनिन् एवं ऑक्सैलिक तथा साइट्रिक एसिड भी पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कबीला कृमिघ्न, विरेचक, इक्दोषहर एवं व्रण रोपक है। स्फीत कृमि के लिये यह अच्छी औषधि है। अधिक मात्रा से हृत्सा तथा बेहोशी आती है। चेदावह नाडी तथा

पेशियों पर इसकी अवसादक क्रिया होती है तथा अन्नवह प्रणाली के ऊपर इसका प्रक्षोभक प्रभाव पड़ता है।

(१) कुछ लेखकों ने इसे सभी प्रकार के आंत्रस्थ कृमियों के लिये उपयोगी बतलाया है लेकिन इसका विशेष प्रभाव स्फीत कृमि (Tape worms) पर पड़ता है। मेलफर्न की अपेक्षा यह कम प्रभावशाली है लेकिन इससे वमन आदि नहीं होता और दुर्बल एवं बच्चों के लिये यह उसकी अपेक्षा अच्छी औषधि है। इसके लिये अतिरिक्त विरेचन की आवश्यकता नहीं होती न कोई पूर्व विरेचन की। २ से ८ माशा चूर्ण दूध, दही, मधु या सुगन्धित पेय के साथ खिला देते हैं। तीसरे या चौथे दस्त में कृमि निकल जाते हैं। यदि ४ घण्टे के बाद भी शौच न हो तो एरण्ड तैल देना चाहिये। इसका कृमिघ्न गुण संभवतः इसके अवसादक प्रभाव के कारण है।

(२) इसका बाह्य प्रयोग तैल में मिलाकर दाद, खुजली, चकत्ते, व्रण एवं अक्षिदग्ध व्रण आदि में बहुत लाभदायी है। सिर के खालित्य में शतधौत घृत के साथ लगाने से लाभ होता है।

(३) इस वृक्ष के पत्ते एवं मूल आदि का चर्म रोगों में अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-८ माशा। बच्चों को ५ र० मधु से, इससे अधिक एक साथ न दें, यदि गुण न हो तो दूसरे दिन पुनः दें।

अथारग्वधस्य (धानबहेरा, अमलतास) नामगुणानाह

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरङ्गुलः। आरेवतो व्याधिघातः कृतमालः सुवर्णकः ॥१४८३॥
कर्णिकारो दीर्घफलः स्वर्णाङ्गः स्वर्णभूषणः। आरग्वधोगुरुः स्वादुः शीतलः सन्नोत्तमः ॥
उवरहद्रोगपित्तास्रवातोदावर्त्तशूलनुत्। तत्फलं सन्नं रुच्यं कुष्ठपित्तकफापहम् ॥

उवरे तु सततं पथ्यं कोष्ठशुद्धिकरं परम् ॥ १५० ॥

अमलतास (धानबहेरा) के नाम तथा गुण—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरङ्गुल, आरेवत, व्याधिघात, कृतमाल, सुवर्णक, कर्णिकार, दीर्घफल, स्वर्णाङ्ग और स्वर्णफल ये नाम अमलतास के हैं।

अमलतास—गुरु, मधुर, शीतल और उत्तम रेचक है। यह ज्वर, हृद्रोग, रक्तपित्त, वायु, उदावर्त्त और शूल को दूर करता है। अमलतास का फल—शुद्ध रेचक, रुचिकारक, कुष्ठ, पित्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है। यह ज्वर में सदा हितकर होता है एवं कोष्ठ को अत्यन्त शुद्ध करने वाला होता है ॥ १४८-१६० ॥

४५ आरग्वध (अमलतास)

हि०—अमलतास, सोनहाली। ब०—सोन्हाली, सोनाल, बन्दर लाठी। म०—बाहवा। क०—कक्केमर। ते०—रेलचेट्टु। गु०—गरमालो। पं०—अमलतास, करङ्गल, कनियार। ता०—कोन्नेमर, शरकोन्ने, कोरैकाय। फा०—ख्यारेचम्बर। अ०—ख्यारे शम्बर, ख्यारशम्बर। अं०—Pudding Pipe Tree (पुडिंग पाइप ट्री) या Indian Laburnum (इण्डियन लैबर्नम्), या Purgine Cassia (पजिग केशिया)। ले०—Cassia fistula, Linn. (केशिया फिस्तुला, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसा)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

१. 'शुद्ध'रिति पा०।

इसका वृक्ष—मध्यमाकार का होता है, किन्तु कहीं कहीं बड़े वृक्ष भी देखने में आते हैं। लकड़ी बहुत मजबूत होती है। १२ से १८ इञ्च तक की लम्बी लम्बी सीकों पर ४ से ८ जोड़े पत्ते लगते हैं जो १॥ से ३॥ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार होते हैं। १०-२० इञ्च तक की लम्बी टहनियों पर सुनहले चमकीले पीले पीले रङ्ग के पांच पांच दल वाले फूलों के घनहरे लगते हैं, जो चैत के अन्त से ज्येष्ठ तक वृक्षों को सुशोभित करते हैं। जेठ में पतली पतली सलाई के समान हरी हरी फलियाँ निकल कर वर्षा के अन्त तक १-२ फीट लम्बी १ इञ्च तक मोटी हरी हरी फलियाँ लटकती दिखाई पड़ती हैं। फिर हेमन्त के अन्त से काला रूप धारण करके वसन्त में पक जाती हैं। फलियों के भीतर पुरानी चवनी बराबर गोल गोल पतले पतले काले रस से लिपटे हुए परत रहते हैं और परतों के बीच सिरस के बीज के समान बीज होते हैं।

रासायनिक संगठन—अमलतास के गूदे में गोंद, पेक्टिन (Pectin), रंजक पदार्थ, शर्करा, अल्प मात्रा में एक मधुगन्धि उडनशूल तैल तथा हाइड्रोक्सिमिथिल-अन्थ्राक्विनोन (Hydroxy-methyl-anthraquinones) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—(१) अमलतास की गुद्दी आनुलोमिक, दाहशामक एवं वेदना स्थापक है। यह श्लेष्म विरेचनों में सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रयोग ज्वरावस्था में तथा सुकुमार, बाल, गर्भिणी एवं कोमल प्रकृति की नारियों में किया जाता है। श्लेष्म विरेचन के लिये इसके स्वतंत्र प्रयोग की अपेक्षा सनाय के साथ बनाया हुआ अवलेह (Confectio senna) अधिक अच्छा है जिससे मरोड, हृत्तास, शूल, आध्मान आदि नहीं होते जो स्वतन्त्र प्रयोग में अधिक मात्रा में लेने से होते हैं। इससे बनी गुलकन्द का भी व्यवहार किया जाता है। रक्त की उष्णता बढ़ने पर अथवा मूल संचय हीकर वातरक्त एवं आमवात आदि रोग उत्पन्न होने पर विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं। जिन्हें कब्जियत की शिकायत हमेशा रहती है उन्हें अल्प मात्रा में इसे बराबर सेवन कराया जाता है। अधिक दिन प्रयोग से मूत्र का रंग गहरे बादामी रंग का हो जाता है। ज्वर में अथवा मधुमेह में विरेचन की आवश्यकता हो तो इसका उपयोग कर सकते हैं। काँफी के सत्व में इसकी मिलावट की जाती है। इसका लेप आमवात, वातरक्त एवं व्रणशोथ आदि पर किया जाता है।

(२) इसके बीज वामक होते हैं तथा ५-७ बीजों का चूर्ण वमन के लिये दिया जाता है।

(३) इसकी छाल के कथ से कवल करने से गले की गाँठों का सूजन कम होती है।

(४) इसके पत्तों का रस अर्द्धित में पिलाया जाता है तथा जिस अंग का घात हुआ हो वहाँ इससे मला जाता है। दाद तथा भिलवों की सूजन पर इसके लगाने से लाभ होता है।

(५) इसकी मूल तीव्र विरेचक एवं ज्वरहर होती है।

मात्रा—गुद्दी ४-८ माशा।

अथ कटुकाया नामगुणानाह

कटुवी तु कटुका तिक्ता कृष्णभेदा कटुभरा ॥

अशोका मस्यशकला चक्राङ्गी शकुलादनी ॥

मस्यपित्ता काण्डरुहा रोहिणी कटुरोहिणी ॥ १५१ ॥

१. 'कटुम्बरे'रिति पा०।

कट्वी तु कटुका पाके तिक्ता रूपा हिमा लघुः।

भेदिनी दीपनी हृद्या कफपित्तज्वरापहा। प्रमेहश्वासकासाज्वराहकुष्ठकिमिप्रणुत् ॥ १५२ ॥

कुटकी के नाम तथा गुण—कट्वी, कटुका, तिक्ता, कृष्णभेदाः, कटुभरा, अशोका, मत्स्य-शकला, चक्राङ्गी, शकुलानदी, मत्स्यपित्ता, काण्डरुहा, रोहिणी और कटुरोहिणी ये सब कुटकी के नाम हैं। कुटकी—तिक्त रसयुक्त, परिपाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, शीतल, लघु, मलको भेदन करने वाली, अधिदीपक, हृदय के लिये हितकर, कफ, पित्तज्वर, प्रमेह, श्वास, कास, रक्त दोष, दाह, कुष्ठ तथा कृमि का नाश करने वाली होती है ॥ १५१-१५२ ॥

४६ कुटकी

हि०—कुटकी, कटुका, कटुका। व०—कटकी। म०—केदारकडू, काली कुटकी। गु०—बालकडू कडू। तै०—कटुकुरोणी। क०—कटुक रोहिणी, कटुकरोहिनी। सा०—कटुकु रोगणी। फा०—खर्वके-हिन्दी। अ०—सर्वके अस्वद, खानेखसैल। अं०—Picrorhiza (पिक्रोहाइझा)। ले०—Picrorhiza kurroa Royle ex Benth. (पिक्रोहाइझा कुर्रो)। Fam. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलरियासी)।

यह हिमालय पहाड़ की ९०००-१५००० फीट ऊँची चोटियों पर काश्मीर से सिक्किम तक बहुत उत्पन्न होती है।

इसका छुप रोमश होता है। इसका भौमिक तना बहुवर्षायु, छोटी उँगली के समान मोटा एवं ६ से १०-१२ इञ्च तक लम्बा होता है। पत्ते २-४ इञ्च लम्बे, सुवाकार, जड़ की ओर संकुचित, आधे की ओर चौड़े, किञ्चित् चिकने और कटे हुए झालरदार किनारे वाले होते हैं। छुप के बीच से एक उण्डी निकलती है जिसके अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। फूल नीले या सफेद रङ के आते हैं। फली-चौथार्ह इञ्च की होती है।

कुटकी इस छुप के मूल (भौमिकतने-Rhizome) को कहते हैं। यह १ से २ इञ्च लम्बे, कपिश लोहवान की तरह रंग वाले, खुरदरे एवं मुड़े हुए टुकड़े होते हैं। इन पर छोटी छोटी चक्राकार गांठें तथा गिरे हुए पत्तों एवं मूल के निशान रहते हैं। यह एक तरफ मोटी तथा दूसरी तरफ पतली होती है तथा इसमें एक प्रकार की हलकी गन्ध होती है। इसका स्वाद अत्यन्त कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पिक्रोहाइझिन (Picrorhizin) नामक एक कड़वा रवेदार मधुमेय (Glycoside) २६.६% पाया जाता है, जिसका उदासन (Hydrolysis) होने पर पिक्रोहीझेटिन (Picrorhizetin) एवं एक प्रकार की मधु शर्करा (Dextrose) प्राप्त होती है। यह मधुमेय जल, मद्यसार, एसिटोन (Acetone) और एथिल ऐसिटेट (Ethyl acetate) में घुलनशील एवं क्लोरोफॉर्म (Chloroform), बेंझिन (Benzene) और ईथर (Ether) में अघुलनशील होता है। यह अत्यन्त जलग्राही (Hygroscopic) होता है। इसके अतिरिक्त इसमें मधुशर्करा, मोम एवं कैथार्टिक एसिड (Cathartic acid) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह एक उत्तम कडुआपौष्टिक, दीपक, पाचक, पित्तविरेचक और निथतकालिक ज्वरहर है। इसकी क्रिया आंत्र एवं यकृत पर होती है। यह अल्प मात्रा में संज्ञन तथा अधिक मात्रा में विरेचक होती है। जेन्शियन की तरह तिक्त पौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। इसका गुण इन्द्रायण के सदृश होता है।

इसका उपयोग नियतकालिकज्वर, शीतज्वर, कामला, पांडू, यकृत विकार, श्वास, कुपचन, हृद्रोग, संग्रहणी, आन्त्र की शिथिलता तथा बच्चों के कृमि विकारों में किया जाता है।

(१) पुनरावर्तित ज्वरों में इससे अच्छा लाभ होता है लेकिन इसको अधिक मात्रा में (३-४ माशा) देना पड़ता है। अविशिष्ट स्वरूप के सभी पुराण मन्द ज्वरों में, विशेषकर विबन्धयुक्त ज्वर में, इससे अच्छा लाभ होता है। इससे ज्वर जनित दाह की शान्ति होती है।

(२) हृदय के ऊपर इसकी क्रिया डिजिटलिस की तरह होती है। हृदय की अकार्य क्षमता जनित यकृत वृद्धि एवं उदरशोथ में इसको अधिक मात्रा में वाथ के रूप में देने से पतले दस्त होकर लाभ होता है तथा हृदय को बल प्राप्त होता है।

(३) आरोग्यवधिनी गुटिका में इसकी आधी मात्रा रहती है।

मात्रा—चूर्ण ५-१० रत्ती। जोर्णज्वर में—३-४ माशा।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(क) कुटकी के ही नाम से जेन्शियाना कुर्रो (Gentiana kurroo, Royle, Fam. Gentianaceae) के मूल जिन्हें 'करू' कहा जाता है, बेचे जाते हैं। ये बाह्य स्वरूप में कुटकी के ही समान दिखलाई देते हैं, लेकिन दोनों की सूक्ष्म रचना में भेद होता है। इनके अनुप्रस्थ विच्छेद (Transverse section) में अन्तर स्पष्ट दिखलाई देता है। जे० कुर्रो में रसारोहण नलिका (Vessel) के कोष्ठारणों की वृद्धि से उत्पन्न मोटाई, चक्राकार (Annular) या सीढ़ी के उण्डों की तरह मोटी रेखाकार (Scalariform) होती है, लेकिन कुटकी (P. kurroo) में यह मोटाई बिन्दुमय (Pitted) होती है। कुटकी (P. kurroo) में मूल के मध्य भाग में रहने वाले कोष्ठ जिन्हें पिथकोष्ठ (Pith cells) कहा जाता है, वे बिन्दुमय आवरण (Pitted walled) वाले होते हैं लेकिन वे कोष्ठ जे० कुर्रो में अनुपस्थित रहते हैं। गुण धर्म की दृष्टि से भारतीय जे० कुर्रो विदेशी जेन्शियाना का अच्छा प्रतिनिधि समझा जाता है।

(ख) जे० कुर्रो के अतिरिक्त इसमें एक तीक्ष्ण औषधि ले०—Helleborus niger Linn. (हेलीबोरस नाइगर) मिली हुई रहती है, जिसको पहचानना आवश्यक है। इसके टुकड़े १ से ३ इञ्च लंबे और ३ इञ्च से कम मोटे होते हैं। बाह्य पृष्ठ चिकना, टूटे हुवे मूल के निशानों से युक्त एवं हलके रंग का होता है। यह टुकड़े बहुत हलके तथा दो अंगुलियों के बीच नख से दबाने पर दब जाने वाले होते हैं।

४६ (क) करू

सं०—त्रायमाण ? हि०, वं०—करू, कुटकी। पं०—कमल फूल, नीलकंठ। बं०—पाषाणभेद, जित्तीयाण। अं०—Indian Gentian (इण्डियन् जेन्शियन्)। ले०—Gentiana kurroo Royle (जेन्शियाना कुर्रो)। Fam. Gentianaceae (जेन्शियानेसी)।

इसका छुप काश्मीर तथा हिमालय के उत्तरी पश्चिमी शिखरों पर ५०००-११००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। पत्र-मूलीय; कोषमय आधार वाले, ३-५ इञ्च लम्बे, रेखाकार (Linear); पुष्प-नीले सफेद दागों से युक्त; मूल-हलका, पीला, चौपहल; फली-लम्बी। चिकित्सा में इसके भौमिक तने तथा मूल का व्यवहार किया जाता है। कुटकी तथा विदेशी 'जेन्शियन्' के स्थान पर इसका प्रयोग किया जाता है। इसकी अन्य जातियों का भी इसी प्रकार व्यवहार किया जाता है। इसके टुकड़े १ इञ्च लम्बे एवं इन पर चक्राकार धारियां होती हैं तथा ये पेटे हुए से प्रतीत होते हैं। अन्य पार्थक्य ऊपर लिखा गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कड़वा पदार्थ तथा एक पारदर्शक राल के समान पीले रंग-का बिना स्वाद का पदार्थ २०% पाया जाता है जो क्षारीय घोल में नहीं घुलता। इसमें जेन्शिय

पिक्रिन (Gentiopicroin) नहीं होता जिसे विदेशी जेन्शियन् (G. lutea) का प्रभावकारी द्रव्य समझा जाता है। शायद यह इसके ताजे मूल से प्राप्त हो सकता है।

गुण और प्रयोग—यह कड़ुआ तथा बल्य है। इससे आमाशयिक रसों की अभिवृद्धि होकर भूख बढ़ती है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह विरेचन कराती है। इसका स्वाद एवं गन्ध अच्छी होने के कारण अनेक बल्य एवं पाचक औषधियों के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। इसमें टैनिन न होने के कारण यह ग्राही भी नहीं होता है। ज्वर में इससे लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ र०।

४६ (ख) खुरासानी कुटकी

हि०—खुरासानी कुटकी। गु०—कडू। म०—कडू। अ०—खेरतिका। हुरान—खेरवेकसीआ। अं०—Black hellebore (ब्लैक हेलीबोर), Christmas rose (क्रिस्टमस रोस)। ले०—*Helleborus niger* Linn. (हेलीबोरस नाइगर)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्कुलेसी)।

इस वनस्पति के मूल नेपाल, हिमालय और अरब से आते हैं। कुटकी में इसकी मिलावट रहती है। विशेष वर्णन कुटकी के साथ दिया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें हेल्लेबोरिन (Helleborin) तथा हेल्लेबोरिन (Helleborein) नामक पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य, ज्वरहर, वेदनाहर, विरेचक, आर्तववृद्धिकर एवं कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में यह विषैली औषधि है। इससे हृदयातिपात होकर मृत्यु हो सकती है। अधिक मात्रा से प्रथम वमन और विरेचन प्रारम्भ होता है, फिर नाडी की गति कम होती होती मृत्यु हो सकती है।

(१) हृदय की अकार्यक्षमता के कारण उत्पन्न जलोदर में पुनर्नवा, अपामार्ग, चिरायता एवं सौंठ के साथ इसका काथ बहुत लाभकर होता है। हृदय पर इसकी क्रिया डिजिटैलिस के समान होती है। इससे हृदय को बल मिलता है एवं नाडी की गति मंद होकर नाडी बलवान् होती है और जलोदर दूर होता है।

(२) वेदनायुक्त ज्वर जैसे फुफुस पाक, तीव्र सन्धि शोथ एवं प्रसूतिज्वर आदि में इसके प्रयोग से लाभ होता है। इन रोगों में इसकी क्रिया वत्सनाभ के समान होती है।

(३) इसके काथ से व्रण प्रक्षालन करने से व्रणपीडा दूर होती है। यह स्थानिक वेदनाहर भी है।

मात्रा—चूर्ण ४-८ र०।

अथ किरातकस्य (चिरायता) नामगुणानाह

किराततित्तः कैरातः कटुतित्तः किरातकः ॥ १५३ ॥

काण्डतित्तोऽनार्यतित्तो भूमिभदो रामसेनकः ॥

किरातकोऽन्यो नेपालः सोऽर्द्धतित्तो ज्वरान्तकः ॥ १५४ ॥

किरातः सारको रुचः शीतलस्तित्तको लघुः ।

सन्निपातज्वरश्वासकफपित्ताक्षदाहशुक् । कासशोथतृषाकुष्ठज्वरव्रणकृमिप्रणुत् ॥ १५५ ॥

चिरायता के नाम तथा गुण—किराततित्त, कैरात, कटुतित्त, किरातक, काण्डतित्त, अनार्यतित्त भूमिभ और रामसेनक ये सब चिरायता के नाम हैं। नेपाल देश में एक प्रकार की चिरायता उत्पन्न होती है जो कि इसकी अपेक्षा आधा तित्तरसयुक्त होती है। अत एव उसे 'अर्धतित्त' कहते हैं। वह ज्वरनाशक होती है। चिरायता—सारक (दस्तावर), रुच, शीतल, तित्तरसयुक्त एवं लघु होती है एवं सन्निपातज्वर, श्वास, कफ, पित्त, रक्तदोष, दाह, कास, शोथ, प्यास, कुष्ठ, ज्वर, व्रण और कृमि इन सबों को दूर करती है ॥ १५३-१५५ ॥

४७ किरात (चिरायता)

हि०—चिरायता, चिरैता, चिरैता, चिराइता। ब०—चिराता, चिरैता। म०—काडेचिराईत, चिराइता। गु०—करियातुं। क०—नेलवेडु। ते०—नीलवेमु। ता०—निलस्वेमु। फा०—नोनिहाद, मोनिहादन्दी। अ०—कसबुज्जरीरा, कसबुश्शारिरा, कसबुल् रायरह। अं०—Chireta। चिरैटा। ले०—*Swertia Chirata* (Bach-Ham)। (स्वर्शिया चिराटा) Fam. Gentiana eae (जेन्शियान्सी)।

चिरायता हिमालय पहाड़ के गरम प्रान्तों में काश्मीर से भूटान तक और खासिया के पहाड़ पर उत्पन्न होता है।

प्रायः पृथ्वी के सब देशों में १८० प्रकार का चिरायता पाया जाता है, इनमें हमारे देश में ३७ प्रकार का होने का अनुभव किया गया है। जिस चिरायते को हम लोग व्यवहार में लाते हैं और जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, वह हिमालय पहाड़ के लगभग ४ हजार से १० हजार फीट ऊँची चोटियों पर तथा खासिया के पहाड़ पर ४ हजार से ५ हजार फीट की ऊँची चोटियों पर उत्पन्न होता है।

इसका वर्षाया क्षुप-दो फीट से ५ फीट तक ऊँचा होता है। कांड-नारंगी कालासा या जामुनी, मूल की तरफ गोल, मोटा, ऊपर बहुशाखा युक्त तथा चौपहल; पत्र-चौड़े भालाकार, ४ x १.५ इंच, चिकने, नोकदार, १ से ७ शिराओं से युक्त, विपरीत; दलपत्र-हरित पीत, परंतु बैंगनी रंग की छाया भी हो सकती है। प्रत्येक विच्छेद पर दो दो हरिताम और रोमश ग्रन्थियाँ होती हैं। फूलने पर इसमें बौड़ी लगती है जिनमें बहुत, बारीक बीज निकलते हैं। पुष्पित होने पर सम्पूर्ण क्षुप को उखाड़ कर सुखाकर बेचते हैं जिसका औषधि में व्यवहार होता है। यह अत्यन्त कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें चिरातिन् (Chiratin, C₅₂ H₉₆ O₃₀) और ओफेलिक् एसिड (Ophelic acid, C₂₆ H₄₀ O₂₀) नामक दो कड़वे द्रव्य १.४२-१.५२% रहते हैं। इनमें पहला हल्के पीले रंग का पदार्थ है एवं दूसरा भी हल्के पीले बादामी रंग का, आर्द्र, चासनी की तरह पदार्थ होता है जो जल तथा मद्यसार में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें यवक्षार, चूना, राल एवं ओलिक (Oleic), पामिटिक (Palmitic) और स्टीरिक् अम्ल (Stearic acid) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—चिरायता दीपन, पाचन, तित्तपीष्टिक, ज्वरहर, दाहप्रशमन, पित्तविरेचक एवं कृमिघ्न है। जेन्शियन की तरह ही यह लाभदायक है। इसके प्रयोग से भूख बढ़ती है, पाखाना साफ होता है तथा पुराने ज्वर में लाभ होता है। इसका उपयोग स्वतन्त्र की अपेक्षा अन्य औषधियों के साथ अधिक किया जाता है।

इसका प्रयोग ज्वर, विषमज्वर, दाह, अग्निमान्द्य, शैथिल्यप्रधान कुपचन, आध्मान, अम्लपित्त, यकृत विकार, कामला, पांडु, श्वास, शोथ, गण्डमाला तथा कुमिरोग एवं व्रण में किया जाता है।

(१) पुराने ज्वर में जब अग्निमांश तथा शरीर में दाह रहता है तब इसके फांट या चूर्ण से लाभ होता है। सुदर्शन चूर्ण, जिसमें इसकी आधी मात्रा रहती है, बहुत व्यवहार में आता है।

(२) रोग संनिवृत्तावस्था में पाचन सुधारने के लिए तथा अग्निवृद्धि के लिए बल्य औषधि के रूप में इसके फाण्ट का व्यवहार लौंग दालचीनी आदि सुगन्धि औषधियों के साथ किया जाता है।

(३) हिचकी, गर्भिणीवमन एवं मद्यपान करने वालों में यदि वमन हो तो इसके चूर्ण वा काथ का प्रयोग मधु या शर्करा मिलाकर करते हैं।

(४) वातरक्त में बल्य औषधि की तरह इसका प्रयोग किया जाता है।

(५) उष्ण कटिबन्धयकृत विकारों में धनियां तथा चिरायते का काथ मधु के साथ देने से लाभ होता है।

(६) भूमिन्मादि चूर्ण जिसमें चिरायता, कुटकी, त्रिकटु, मुस्तक, इन्द्रयव, कुरैया की छाल एवं चित्रक आदि पदार्थ रहते हैं, उसका व्यवहार कुपचन, संग्रहणी, ज्वर तथा कुमिरोग में किया जाता है।

(७) सुदर्शन चूर्ण तथा टङ्गण क्षार का दो तीन बार बाह्य प्रयोग करने से 'अजगलिका' (Impetigo contagiosa) नामक फुन्सियों में पारद मलहर की अपेक्षा अधिक लाभ होता है।

(८) जीर्णज्वर में पांडु तथा कृशता होने पर किरातादि तैल से अभ्यङ्ग कराया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ४-१५ रती।

प्रतिनिधि—ये सभी जेन्शियानेसी (Gentianaceae) वर्ग के हैं।

(१) *S. purpurascens* Wall. (स्व० परप्युरासेन्स) —यह पश्चिमोत्तर हिमालय के गरम प्रान्तों में काश्मीर से कुमाऊँ तक प्राप्त होता है। कांड छोटे; शाखाएँ फैली हुई; पत्र आयताकार वा भालाकार, १½ × ७ इञ्च; दलपत्र हलके सुखी लिये बैंगनी रंग के और उनके आधार पर एक कालाचक्र, विच्छेद बाहर की ओर मुड़े हुये और एक एक ग्रन्थि से युक्त होते हैं।

(२) *S. decussata* Nimmo ex Grab. (स्व० डिकसेटा) —म०-सिलाजित, महा-बलेश्वर—कडु, द०-कवि।

इसका छोटा क्षुप दक्षिण के पश्चिमी भागों में होता है। कांड चौपहल; पुष्प श्वेत। इसके टुकड़े २ इञ्च लम्बे एवं हंस के पंख के इतने मोटे होते हैं। ये महाबलेश्वर में विकते हैं। स्वाद अत्यन्त कडुवा। गुण कसू (जं. कुरी) की तरह।

(३) *S. chinensis* Franchet (स्व० चाइनेन्सिस) —जापानी चिरायता का क्षुप छोटा एवं ४-१४ इञ्च ऊँचा होता है। कांड बहुत बारीक। यह स्वाद में चिरायते की अपेक्षा अधिक कडुवा होता है।

(४) *S. paniculata* Wall. (स्व० पॅनिक्युलैटा) ब०-कड़वी।

(५) *S. perennis* Linn. (स्व० पेरैन्सिस)।

(६) *S. corymbosa* Wight (स्व० कोरिम्बोसा)।

(७) *S. affinis* Clarke (स्व० अफिन्सिस)।

(८) *Exacum bicolor* Roxb. (एक्शैकम् बाइकलर) —हि० बड़ा चिरायता।

इसका क्षुप दक्षिण में कोंकण में बरसात के दिनों में उत्पन्न होता है। पुष्प श्वेत और सुन्दर। दलपत्रों के अन्तिम हिस्से जरा नीले से रहते हैं। गुण—पौष्टिक, अग्निवर्धक एवं कसू की तरह।

(९) *E. tetragonum* Roxb. (ए. टेट्रागोनम्) —हि०-तितखन, म०-ऊदकिराईत।

इसका वर्षाक्षुप उत्तर हिन्दुस्तान के पहाड़ी प्रदेश एवं हिमालय पर उत्पन्न होता है। यह एक हाथ ऊँचा, कांड चौपहल; पत्र-विपरीत, विनाल, श्ल्याकृति लेकिन कुछ चौड़े, एक अङ्गुल लम्बे और ५ शिरायुक्त; पुष्प नीले। गुण-दीपन एवं कडुवापौष्टिक। इसका प्रयोग जीर्णज्वर तथा कुपचन में किया जाता है।

(१०) *Erythraea roxburghii* G. Don (एरिथ्रिया रॉक्सबर्गाय)। ब०-गिर्मि। म०-लुन्तक।

इसका छोटा सा क्षुप कोंकण में बरसात के बाद उत्पन्न होता है। पुष्प सुन्दर, गुलाबी एवं सितारों के समान। स्वाद कडुवा। गुण—इसको कड़ुनाई भी कहते हैं तथा पौष्टिक कडुवी औषधि की तरह बङ्गाल में व्यवहार में आती है। कुपचन तथा ज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है।

(११) *Enicostemma littorale* Blume (एनिकोस्टेमा लिटोरेल) —हि०, म०-छोटा चिरायता, गु०-मामिज्वा; तै०-नेलगल्लि।

इसका छोटा क्षुप समी जगह किन्तु समुद्र के किनारे तथा तर जमीन में अधिक होता है। यह बंगाल में नहीं होता। गुजरात तथा उत्तरी कोंकण में बहुत होता है। इसका क्षुप एक बिन्ता ऊँचा एवं बहुत शाखायुक्त होता है। कांड सीधा; चौपहल एवं मूल से ऊपर तक पत्र युक्त। पत्र विपरीत, विनाल, श्ल्याकृति, सनाथ वा इमली की तरह एवं ३ शिरायुक्त। पुष्प श्वेत, छोटे, विनाल, प्रत्येक कोण में ३, ३। फल गोल फली। स्वाद अत्यन्त कडुवा। इसके पत्रांग का व्यवहार गुजरात तथा मद्रास में अधिक किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, आनुलोमिक एवं तिक्त पौष्टिक है। इसको रती दो रती मात्रा में कुपचन में देते हैं।

व्यामिश्रण—इनमें से प्रथम दो जेन्शियानेसी (Gentianaceae) वर्ग के हैं।

(१) *S. angustifolia* Buch.-Ham. (स्व० अँगस्टिफोलिया) —इसका कांड चौपहल एवं पंखयुक्त होता है। यह स्वाद में चिरायते की अपेक्षा कम कडु होता है एवं इसमें पित्त कोष (Pith cells) बहुत ही अल्प रहते हैं।

(२) *S. alata* Royle ex D. Don (स्व० अलैटा) —यह विलकुल कडुवा नहीं होता। इसमें पित्त (Pith) पूर्ण संवर्धित रहता है। चिरायता इससे अधिक गहरे रंग का, स्वाद में अत्यन्त कडुवा और इसका पित्त (Pith) संतत (Continuous) रहता है।

(३) *Rubia cordifolia* Linn. (रुबिया कॉर्डिफोलिया) (Fam.—Rubiaceae-रुबि-एसी) — इसकी पहचान इसके बैंगनी (Purple) रंग से हो जाती है।

(४) *Andrographis paniculata* Nees (Fam. Acanthaceae-अँकैथेन्सी) (अँड्रो-ग्राफिस पॅनिक्युलैटा) — हि० कालमेघ।

इसके कांड हरे, अनेक सीधी, पतली विपरीत शाखाएँ एवं पत्र भालाकार और हरे होते हैं जिससे इसका भेद किया जा सकता है। देशी चिरायता के नाम से यह बजार में विकता है।

अथेन्द्रयवस्य नामगुणानाह

उक्तं कुटजबीजं तु यवमिन्द्रयवं तथा । कलिङ्गं चापि कालिङ्गं तथा भद्रयवा अपि ॥ १५६ ॥

इन्द्रयव के नाम तथा गुण—कुटज (कुड़ा या कुरैया) के बीज को इन्द्रयव कहते हैं उसके नाम—कुटजबीज, यव, इन्द्रयव, कलिङ्ग, लिङ्गिका और भद्रयव ये सब हैं ॥ १५६ ॥

ॐ इति क्लीबेऽमरोप्याह ॥ १५६ ॥

'अमरसिंहने 'अमरकोश' में इन्द्रयव को नपुंसकलिङ्ग कहा है ॥ १५६ ॥

कचिदिन्द्रयव नामैव भवेत्तदभिधायकम् । फलानीन्द्रयवास्तस्य तथा भद्रयवा अपि ॥ १५७ ॥

कहीं पर इन्द्र के जो नाम हैं वे ही इन्द्रजव के भी समझे जाते हैं और कुरैया के फल का इन्द्रयव तथा भद्रयव नाम हैं ॥ १५७ ॥

ॐ इति धन्वन्तरिः प्राह ॥ १५७ ॥

यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि यह वचन 'धन्वन्तरि' भगवान् का है, इससे इन्द्रयव का पुल्लिङ्ग में भी प्रयोग होता है ॥ १५७ ॥

इन्द्रयवं त्रिदोषघ्नं संग्राहि कटु शीतलम् ॥ १५८ ॥

उबरातीसाररक्ताशौचमिवीसर्पकुष्ठनुत् । दीपनं गुदकीलास्रवातास्रश्लेष्मशूलजित् ॥ १५९ ॥

इन्द्रजव त्रिदोषनाशक, संग्राही, कटु रस युक्त और शीतल है। यह ज्वर, अतीसार, खूनी बवासीर, वमन, वीसर्प एवं कुष्ठ को दूर करने वाला, अग्निदीपक एवं गुदकील, रक्तदोष, वातरक्त, कफ तथा शूल को दूर करता है ॥ १५८-१५९ ॥

४८ इन्द्रयव

हि०—इन्द्रजव, कड़वा इन्द्रजव । गु०—इन्द्र जव, इन्द्र जव । म०—कुड़वाचे बी । ले०—*Holarrhena antidysenterica* Wall. (हॉलेहीना एन्टिडिसेन्टेरिका) । Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी) ।

कुड़ा वृक्ष की फलियों के बीज को 'इन्द्रजव' कहते हैं। यह देखने में जई के आकार का होता है। इन्द्रजव कड़वा और इन्द्रजव मीठा इन भेदों से यह दो प्रकार का होता है। मीठा या कम कड़वा इन्द्रजव, कुटज भेद, राइटिया टिन्क्टोरिया (*Wrightia tinctoria* R. Br.) के बीज को कहते हैं जो कम गुण वाला होता है। इनका शेष परिचय कुटज वृक्ष के प्रकरण में दिया जायगा।

गुण और प्रयोग—यह कड़वा, दीपन, संग्राही, ज्वरहर, कुमिन्, वातानुलोमक, वृष्य, बल्य एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग रक्तातिसार, ज्वरातिसार, शीतज्वर, रक्ताश, संग्रहणी, प्रवाहिका, पथरी तथा श्वास एवं पुराने फुफ्फुस विकारों में किया जाता है। इसको भूनकर फांट, काथ या चूर्ण के रूप में दिया जाता है।

(१) बच्चों के रक्तातिसार में कड़वा इन्द्रजव एवं नागरमोथा के काथ में मधु मिलाकर दिया जाता है।

(२) रक्ताश में सौंठ के साथ इसके काथ को देने से लाभ होता है। इसको दूध के साथ काथ करके देने से इसमें बहुत लाभ होता है।

(३) कुपचन, उदरशूल एवं अग्निमान्द्य आदि के लिये इसके चूर्ण को अल्प मात्रा में नित्य लेने से लाभ होता है। वमन में इसको भूनकर या फांट या काथ बनाकर देना चाहिये।

(४) पुराने फुफ्फुस के विकार तथा दमा में इसका व्यवहार किया जाता है।

(५) पार्वाधिकज्वर तथा शीतज्वर में इसको गुडुच के साथ काथ बनाकर देना चाहिये। नित्य इन्द्रजव का चूर्ण खाते रहने से शीतज्वर नहीं आता।

(६) पूयदन्त (*Pyorrhoea*) में मसूहों पर इसके चूर्ण को मलने से रक्तस्राव कम होता है तथा पूय एवं दुर्गन्धि दूर होती है।

मात्रा—चूर्ण १-४ माशा भूनकर या ३-६ तो० काथ बनाकर।

मीठा इन्द्रयव बलवर्धक है तथा धातुपौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अथ मदनस्य (मैनफल) नामगुणानाह

मदनश्छर्दनः पिण्डो नटः^१ पिण्डीतकस्तथा । करहाटो मरुबकः शल्यको विषपुष्पकः ॥ १६० ॥

मदनो मधुरस्तिको वीर्योष्णो लेखनो लघुः । नान्तिकृद्भिद्रधिहरः प्रतिश्यायव्रणान्तकः ॥

रुचः कुष्ठकफानाहशोथगुल्मव्रणापहः ॥ १६१ ॥

मैनफल के नाम तथा गुण—मदन, छर्दन, पिण्ड, नट, पिण्डीतक, करहाट, मरुबक, शल्यक तथा विषपुष्पक ये सब मैनफल के नाम हैं। मैनफल—मधुर तथा तिक्तसयुक्त, उष्णवीर्य, लेखन, लघु, वमनकारक, विद्रधिदोष को दूर करने वाला, प्रतिश्याय (जुकाम) और व्रणका नाशक, रुक्ष एवं कुष्ठ, कफ, आनाह, शोथ, गुल्म तथा क्षत को दूर करने वाला होता है ॥ १६०-१६१ ॥

४९ मदन (मैनफल)

हि०—मैनफल, मयनफल । ब०—मैनफल, मयना कांठार गाछ । म०—येल, गेलफल । गु०—मींडोल, मींडल । क०—मंगरिकै । ते०—बसन्त कडिमा चेट्टु, मण्डचेट्टु, मंगचेट्टु । ता०—मरकलम्, पुंगारै । ने०—मैदल । फा०—बुझ्-उल्-कुच् । अ०—जौजुल् कौसल । अं०—Emetic Nut (एमेटिक नट), Bushy Gardenia (बुशी गार्डेनिया) । ले०—*Randia dumetorum* Lam. (रेंडिया ड्युमेटोरम्) । Fam. Rubiaceae (रूबियेसी) ।

यह हिमालय के साधारण प्रदेश में जम्मू से पूरब की ओर सिक्किम तथा दक्षिण की ओर चट्टगांव, खासिया पहाड़, सिलहट आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृत्त—१-१॥ इत्र लम्बे लम्बे मजबूत पत्र कोणीय कांठों से भरा हुआ छोटे कद का होता है। छाल—भूरे रङ्ग की, लकड़ी—सफेद या भूरे रङ्ग की होती है। पत्ते—१-२ इत्र लम्बे ऊपर से लटवाकार और नीचे की ओर क्रमशः पतले होकर पंखयुक्त पत्रनाल में परिवर्तित होते हैं और प्रायः दलबद्ध होकर रहते हैं। फूल—पांच पंखड़ों वाले किञ्चित् हरिताम, सफेद और सुगन्धयुक्त होते हैं। फल—जङ्गली अन्जीर, सुपारी या अखरोट के आकार के होते हैं और पकने पर पीले पड़ जाते हैं। बीज—बीहीदाने के समान होते हैं। इन्हीं फलों को मैनफल कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फल में सॅपोनिन् (*Saponin*) तथा वैलैरियानिक एसिड (*Valerianic acid*), मोम, राल एवं रजक पदार्थ आदि पाये जाते हैं।

१. 'राठः' इति पाठः ।

गुण और प्रयोग—मैनफल बहुत अच्छा वमन द्रव्य माना गया है। प्राचीन शास्त्रकारों ने इसके बीजों को एक विशेष प्रकार से संग्रह कर व्यवहार करने को लिखा है। नये ग्रन्थकार इसके बीज वा फल की छाल को वामक नहीं मानते लेकिन इसके गूदे (Pulp) को वामक मानते हैं। डा० देसाई प्राचीन मत से सहमत हैं। कुछ भी हो सम्पूर्ण फल वामक अवश्य है। कुछ विद्वान् इसको हपीकाक् का अच्छा प्रतिनिधि बतलाते हैं। इसका उपयोग गर्भपात कराने के लिये किया जाता है तथा यह मछलियों के लिये विषैला है।

(१) एक फल कूट कर २½ तो० जल में १ घंटा भिगोकर रखना चाहिये। फिर प्रत्येक के खरल में घोटकर, कपड़े से छान कर, उसमें थोड़ा मधु तथा पीपर मिलाकर खाली पेट पिलाने से १ घण्टे बाद १-२ साफ वमन हो जाता है और कभी कभी बाद में विरेचन भी होता है। इस वामक प्रयोग को हृष्ट-पुष्ट मनुष्य में व्यवहार में लाना चाहिये।

(२) इसके २-३ फलों के गूदे को कूट कर ३ पाव जल में १०-१५ मिनट मसल कर छानकर प्रयोग किया जाय तो प्रायः १० मिनट में हृल्लास और वमन शुरू हो जाता है। इसको देने के बाद उष्ण जल पिलाने से और भी वमन होता है। या केवल १ फल का गूदा भी पर्याप्त हो सकता है।

(३) इसके गूदे को सुखाकर रख सकते हैं तथा १ से ४ मासे तक वामक औषधि के रूप में या २-३-५ र० कफनिःसारक एवं स्वेदल औषधि के रूप में व्यवहार में ला सकते हैं।

(४) मुलेठी मन्दार एवं मैनफल का चूर्ण २-७ र० देने से श्वास तथा खाँसी में लाभ होता है एवं अधिक मात्रा में (१०-३० र०) अजीर्ण, शूल, शिरःशूल और अण्डकोष शोथ में वमन कराने के लिये देते हैं।

(५) अन्य सुगन्धि औषधियों के साथ रक्तातिसार, पायायिक ज्वर एवं शिरःशूल में इसके गूदे को देते हैं। अतिसार में १ से २ माशा गूदा दिया जाता है। यह हपीकाक् का अच्छा प्रतिनिधि है।

(६) इसके गूदे का टिक्चर १५-६० बूँद कुकास एवं पागलपन में तथा उद्वेगन निरोधि एवं शामक औषधि के रूप में व्यवहार में लाया जाता है।

(७) इसका फलत्वक एवं बीज विरेचक एवं कुमिचन हैं एवं बच्चों में पित्तमयता तथा कुमि दूर करने के लिये व्यवहार में आता है।

(८) इसके वृक्ष की छाल का बाह्य लेप शोथहर एवं वेदनाहर है एवं आमवात, फोड़े तथा चोट एवं हड्डियों की पीड़ा पर लगाया जाता है। अतिसार, संग्रहणी, ज्वर तथा आमवात में इस वृक्ष की छाल का आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। कांजी के साथ इसके फल को पीस कर नाभि के चारों तरफ लगाने से उदरशूल दूर होता है। मुखदूषिका (acne) एवं फोड़े आदि में इसके फल के लेप से लाभ होता है।

(९) बच्चों में दन्तोत्प्रेद के समय ज्वर आदि होने पर इसके गूदे के चूर्ण को तालू तथा मसूहों पर रगड़ते हैं।

(१०) बन्धत्व दूर करने के लिये ६ माशा इसके बीज के चूर्ण को दूध, शक्कर वा केशर के साथ खिलाना चाहिये तथा ८, १० रत्ती चूर्ण की गुड़ के साथ बत्ती बनाकर योनि में धारण करानी चाहिये। इस प्रयोग से गर्भाशय शोथ आदि विकार दूर होकर कष्टार्तव एवं अनियमितार्तव आदि में भी लाभ होता है।

(११) सर्पविष में यह औषधि लाभदायक है। इसके मूल को बैल के मूत्र में पीसकर अंजन कराया जाता है तथा शुष्क मज्जा का आन्तरिक प्रयोग (५-१५ र०) करते हैं।

मात्रा—वामक-१ फल का हिम। गूदे का चूर्ण १-४ माशा। अन्य गुणों के लिये २-४ रत्ती।

अथ रास्नाया नामगुणानाह

रास्ना युक्तरसा रस्या सुवहा रसना रसा । एलापर्णी च सुरसा सुगन्धा श्रेयसी तथा ॥१६२॥

रास्नाऽऽमपाचिनी तिक्ता गुरुगुणा कफवातजित् ॥ १६३ ॥

शोथश्वाससमीराश्वत्तशूलोदरापहा । कासज्वरविषाशीतिवातिकामयसिध्महत् ॥ १६४ ॥

रास्ना के नाम तथा गुण—रास्ना, युक्तरसा, रस्या सुवहा, रसना, रसा, एलापर्णी, सुरसा, सुगन्धा तथा श्रेयसी ये सब रास्ना के नाम हैं। रास्ना—आम को पचाने वाली, तिक्तरस युक्त, गुरु, उष्णवीर्य और कफ वात नाशक है तथा शोथ, श्वास, वातरक्त, वातशूल, उदर रोग, कास, ज्वर, विष, अस्ती (८०) प्रकार के वात रोग तथा सिध्म इन सब को दूर करती है ॥१६३-१६४॥

५० रास्ना

आज कल वैद्य समाज में रास्ना एक भ्रमात्मक औषधि मानी जा रही है। वात विकारों के लिये आयुर्वेद में इसका प्रयोग रास्नादि, महारास्नादि काथ के रूप में बहुत किया जाता है। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न औषधि रास्ना नाम से ली जाती है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके परिचय में निम्न श्लोक प्राप्त होते हैं।

रास्ना तु त्रिविधा प्रोक्ता मूलं पत्रं तृणं तथा ।

त्रैयौ मूलदलौ श्रेष्ठौ तृणरास्ना तु मध्यमा ॥ (रा. नि.)

अथ रास्ना भृङ्गपत्रा पाषाणादौ प्रजायते ।

गिरौ च लघु-रास्ना स्यात् ततो ह्रीनगुणा स्मृता ॥

सुगन्धमूला, एलापर्णी ॥

(शिवदत्तः)

नीचे रास्ना नाम से ली जाने वाली विभिन्न वनस्पतियों का वर्णन अलग २ किया गया है।

(१) *Pluchea lanceolata* Oliver & Hiern (प्लूचिया लॅन्सिओलॅटा)। *Fam-Compositae* (काम्पोझिटी)। हि०-रायसन, रोशना, वायसुरई। पं०-रासन। सिन्ध०-कौरसन। रा० पु०-छोटा कलिया। अलीगढ़-वनसेरई, वनसोरई, वायसुरई। आगरा-छोटी कलिया। कानपुर-सुरही, सौरहि। बिहार-रोशना, रचना, रोचना।

यह अपर बंगाल, बिहार, अवध, कानपुर और पश्चिम की ओर पंजाब तथा सिन्ध तक पाई जाती है। पत्तों का आकार रास्ना अर्थात् जिह्वा के सदृश होने से इस का नाम रास्ना रखा गया है। इसी के आधार पर उत्तर प्रदेश, पश्चिमोत्तर प्रदेश आदि जगहों के अधिकांश वैद्य वायसुरई को ही 'रास्ना' मानते हैं। बिहार के ग्रामीण इसको 'रचना' और 'रोचना' के नाम से पुकारते हैं। मालूम होता है कि—रचना शब्द रसना का अपभ्रंश है। बिहार के अधिकांश वैद्य भी इसको उपयोग में लाते हैं। श्रीमान् डा० बलवन्तसिंहजी इसी को उपयोग में लाने की सलाह देते हैं।

इसका छुप १-२ फीट ऊँचा, अनेक शाखा प्रशाखा करके शाब्दर तथा उन पर असंख्य बारीक भूरे रङ्ग के रोवें होते हैं। पत्ते-१-२ इञ्च लम्बे सनाय के पत्तों के आकार वाले किन्तु उससे बड़े होते हैं तथा सूखने पर पीलापन लिये भूरे रङ्ग के हो जाते हैं। पर्णवृन्त छोटा एवं पेंटा हुआ होता है। पतली पतली शाखाओं के अन्त में नन्हे नन्हे बैंगनी रङ्ग के फूलों की घुण्डियां लगती हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र सनाय की तरह भेदन हैं तथा सनाय के स्थान पर प्रयोग में आते हैं।

(२) *Inula racemosa* Hook. f. (इनुला रेसिमोसा) । Fam. Compositae (कॉम्पो-सिटो) । फा०-रासन, कुष्ठ-इ-शामी । अ०-जंजबीलशमी । ईरान०-पिल् गुष् धार्फ । कश्मीर-पोष्कर ।

डा० देसाई अन्य शाखाओं के साथ सहमत होते हुए रासना के स्थान पर इसी छुप के मूल को व्यवहार करने की सलाह देते हैं क्योंकि इसके गुण रासना से मिलते जुलते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इनुला को पुष्करमूल मानते हैं।

स्थान भेद से इसके छुप की ३, ४ जातियां पाई जाती हैं। यह काश्मीर तथा उत्तर-पश्चिम हिमालय में होती हैं। भारत में जहां जहां सुगन्ध फूट होता है वहां वहां यह उत्पन्न होने से तथा उसके समान दिखलाई देने से कूठ में इसकी मिलावट की जाती है।

रासन का छुप ५ फीट तक ऊँचा एवं बूढ़ होता है। पत्र-चर्मवत्, ऊपर से खुरदरे एवं नीचे से धनरोमश तथा दन्तुर होते हैं। आधारीय पत्र ८-१८ इञ्च × ५-८ इञ्च बड़े, दीर्घ वृत्ताकार-भालाकार एवं लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। काण्डपत्र अंडाकार-आयताकार, अर्धकाण्डासक्त एवं प्रायः आधार पर गहराईतक खंडित होते हैं। पुष्प-पीत वर्ण के १.५-२ इञ्च व्यास के गुच्छों में आते हैं। फल-छोटे, महीन एवं अग्र पर रक्ताभ रोमयुक्त होते हैं। इसका ताजी जड़ में ओरिस् एवं कर्पूर जैसी तीव्र गंध होती है जो रखने पर कम हो जाती है।

रासायनिक संगठन—रासन में अल्प मात्रा में उड़नशील तैल और इनुलिन (Inulin) होता है। तैल में एलेन्टोलैक्टोन (Alantolactone, C₁₅ H₂₀ O₂) नामक एक कृमिनाशक, कफनिःसारक एवं मूत्रल द्रव्य होता है।

गुण और प्रयोग—यह पाचन, वातहर, कफहर, श्वासहर एवं गर्भाशय संकोचक है। इसका काथ आध्मान, उदरशूल, कुपचन, अनार्तव, कष्टार्तव, फुफ्फुस विकार जैसे दमा, जीर्ण श्वसनिका शोथ, क्षय, फुफ्फुसावरण शोथ एवं आमवात तथा अन्य वातिक रोगों में दिया जाता है। इससे ज्वर तथा मूजन कम होती है तथा वेदना दूर होती है।

कण्डू आदि त्वचा के रोगों में इसके काथ को शरीर पर लगाया जाता है। मूल को गोमूत्र में रगड़ कर खुजली, दाद एवं पामा आदि पर लगाया जाता है। राजयक्ष्मा के जन्तुओं से उत्पन्न त्वचा के त्रणों में इससे लाभ होता है। जन्तुओं के विष को दूर करने के लिये इसका उपयोग करते हैं तथा इससे वेदना कम होती है।

प्रतिनिधि—कूठ ।

(३) *Vanda roxburghii* R. Br. (वण्डा रॉक्सबर्गाई) । Fam. Orchidaceae (ओरचिडॅसी) । बाँदा, बंगीय रासना । बं०-रासना । संताल-दरेबंकि । क०-मरवाले । ते०-कनपचेट्टू, नदनिके, नेरदानचेट्टू ।

यह बंगाल, बिहार, गुजरात तथा कोंकण से ट्रावनकोर तक प्राप्त होते हैं। इसके पौधे प्रायः आम और मधुक वृक्षों की डालियों पर उगे हुए पाये जाते हैं। काण्ड १-२ फीट लम्बा तथा उसकी ग्रन्थियों से अनेक मोटे और मांसल वातलम्बी (Epiphytic = एपिफाइटिक) मूल निकले रहते हैं। पत्तियां-६-८ इञ्च लंबी, मध्य पशुक पर गहरी और दो कतारों में निकली हुई रहती हैं। सदण्डक पुष्पमंजरियां पत्तियों से लम्बी होती हैं। पुष्प व्यास में १.३-२ इञ्च और पंखड़ियां प्रायः मिश्रित वर्ण की होती हैं। वे अधिकतर पीलाभ और कभी कभी नीलाभ होती हैं और उनके कुछ भागों में बदामी, बैंगनी तथा सफेद रंग भी होते हैं। फल—३-३.३ इञ्च लम्बा और सन्धियों पर रीढ़दार होता है। इसके मूल का उपयोग किया जाता है।

बंगाल के अधिकांश कविराज इसी को उपयोग में लाते हैं। वे प्रायः वाटिकाओं में आम के वृक्षों की मोटी टहनियों के ऊपर की खरदरी छाल को पृथक् कर उस पर उक्त रासन को शोरियां युक्त बिठा रस्सी से बांध कुछ मिट्टी का अंश दे पानी से कुछ रोज सींचा करते हैं।

गुण और प्रयोग—आमवातादि में इससे कुछ लाभ होता है। ज्वर में सर्वाङ्ग पर इसके पत्तों का लेप किया जाता है। कर्णस्ताव में इसके पत्तों का रस कान में डालते हैं। अनेक वात-विकारों तथा आमवातादि में बाष्प प्रयोग के लिये इससे बने तेल का उपयोग किया जाता है। यह फिरङ्ग की द्वितीयावस्था तथा वृश्चिक दंश पर लाभदायक है।

(४) *Saccolabium papillosum* Lindl. (सॅककोलेविअम् पॅपिलोसम्) । Fam. Orchidaceae (ओरचिडॅसी) । क०-मरवाले । म०-कानभेर ।

इसके बाँदे भी आमवृक्ष के ऊपर होने वाले बाँदों की तरह दिखलाई देते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक है तथा इसका आमवातादि में प्रयोग होता है। केले के पत्तों में इसके पत्ते लपेटकर पुटयाक करके उसके रस को मधु के साथ कर्णपिटका के लिये कान में डालते हैं जिससे कर्णपीडा दूर होती है।

(५) *Tylophora asthmatica* W. & A. (टाइलोफोरा एस्मेटिका) । Fam. Asclepiadaceae (एस्केलेपिडॅसी) ।

हि०-अंतमूल, जंगली पिकवन । ब०-अन्तोमूल । म०-पितकारी, खडकी रासना । ता०-नायपाले । ते०-वेरिपल । मल०-वहोपाल । क०-किरुमंजि । उडि०-मेंडो । सं०-मूलिनी, मूल-रासना, पित्तवल्ली, आन्त्रपाचक ।

इसकी लता उत्तरी बंगाल, आसाम, कछार, उड़ीसा, कोंकण, दक्षिणी भारत, कनारा, मद्रास प्रान्त एवं पूर्व पाकिस्तान, बर्मा, मलाक्का द्वीप तथा लंका आदि स्थानों पर पायी जाती है। यह रेतीली भूमि पर अधिक होती है। बंबई के बजार में रासना के नाम से इसके मूल भी विकते हैं।

इसकी बहुवर्षायु लता होती है। पत्र-२ से ५ इञ्च लम्बे, १ से २ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या अंडाकार, तीक्ष्णाय वा लम्बाय, आधार पर तांबूलाकार, अखण्ड, सनाल, ऊपरी पृष्ठ चिकना, अधो-पृष्ठ रोमश भूरे रंग का, ताजी अवस्था में स्वाद एवं गंध हल्कासकर एवं सूखने पर गन्धहीन एवं रुचिहीन। पुष्प-बहुत, छोटे, हलके पीले रंग के, अन्दर से बैंगनी एवं गुच्छों में। फल—(Follicle) —२ से ४ इञ्च लंबा अग्र की तरफ नुकीला होता जाता है। मूल-बहुत लम्बे, मांसल, अनेक, बारीक, हलके पीले या मटमैले तन्तुयुक्त, अन्दर से हलके पीले रंग के, आसानी से टूटने वाले, गन्धहीन, स्वाद प्रारंभ में मीठा लेकिन बाद में कड़। इसकी लता ईश्वरमूल की तरह दिखलाई देती है लेकिन उसके पत्र के दोनों पृष्ठ हरे और चिकने तथा पुष्प बड़े होते हैं। इसके मूल तथा पत्र का व्यवहार किया जाता है जिनमें पत्र अधिक गुणकारी है।

रासायनिक संगठन—इसमें टाइलोफोराइन (Tylophorine, $C_{24}H_{27}O_4N$), टाइलोफोरिनाइन (Tylophorinine, $C_{23}H_{27}O_4N, O.5H_2O$), वे दो रवेदार क्षाराम, एक बहनशील तैल ०.२६%, एक रंगहीन रवेदार अन्य पदार्थ ०.१८%, खनिज (Mineral matter) १.५% तथा एक वामक द्रव्य आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके मूल तथा पत्र अच्छे वामक, कफनिःसारक, स्वेदक, रक्तशोधक, आनुलोमिक एवं आमपाचक हैं। यह एपीकॉक के अच्छे प्रतिनिधि हैं। अल्प मात्रा में इससे खांसी दमा, बच्चों की कुक्कुर खांसी, अतिसार एवं संग्रहणी आदि में बहुत लाभ होता है। अधिक मात्रा में यह वामक तथा अधिक बार प्रयोग से वमन के साथ विरेचन भी होता है।

(१) यह १ मा० की मात्रा में चूर्ण के रूप में अतिसार, रक्ततिसार एवं संग्रहणी आदि में देने से बहुत लाभ होता है। इसके साथ सौंठ, गोंद या अल्प मात्रा में अफीम मिलाई जा सकती है।

(२) कफ विकारों में इसके चूर्ण को घोड़बच एवं मुलेठी आदि के साथ देने से लाभ होता है।

(३) प्रसूति के बाद स्त्रावशुद्धि के लिए इसका उपयोग करते हैं।

(४) अजीर्ण आदि में वमन कराने के लिये ४ इंच लंबी ताजी जड़ की छाल जल में घिस कर देने से वमन होता है या १-२ माशा पत्र चूर्ण जल के साथ दिया जाता है।

(५) इसको रसायन तथा रक्तशोधक मानते हैं एवं आमवात, फिरंगज आमवाताभ विकृति, सन्धिवात, शरीरपीडा एवं सर्पदंश आदि में इसका उपयोग करते हैं।

(६) वातरक्त में इसके मूल का बाह्यलेप किया जाता है।

मात्रा—१-१ र०; वामक १-२ मा०।

इन उपर्युक्त वनस्पतियों के अतिरिक्त मद्रास की तरफ कुलिञ्जन का व्यवहार रास्ना के नाम से कुछ लोग करते हैं तथा धवलबरुआ और सर्पाक्षी-ले० ओफिओराइशा मुन्गोस् (Ophiorrhiza mangos Linn.) एवं अन्य अनेक औषधियां भी रास्ना नाम से ली जाती हैं। इनमें से प्रथम ३ औषधियां अधिक प्रचलित हैं।

नोटः—सर्पाक्षी का वर्णन गडूच्यादि वर्ग तथा धवलबरुआ का वर्णन नाकुली में किया गया है।

अथ (रास्नाभेदः) नाकुली नामगुणानाह

नाकुली सुरसा नागसुगन्धा गन्धनाकुली। नकुलेष्टा भुजङ्गाक्षी सर्पाक्षी विषनाशिनी ॥
नाकुली तुवरा तिष्ठा कटुकोष्णा विनाशयेत्। भोगिलताश्रिकाखुविषज्वरकृमिघ्नान् ॥

नाकुलीकन्द के नाम तथा गुण—नाकुली, सुरसा, नागसुगन्धा, गन्धनाकुली, नकुलेष्टा, भुजङ्गाक्षी, सर्पाक्षी तथा विषनाशिनी ये सब नाम 'नाकुलीकन्द' के हैं। नाकुलीकन्द—कषाय, तिक्त एवं कटुरसयुक्त तथा उष्णवीर्य होता है। और सर्प, मकड़ी, बिच्छू तथा मूसा इन सबों के विषको दूर करने वाला एवं ज्वर, कृमि तथा ब्रण को भी नष्ट करने वाला होता है ॥ १६५-१६६ ॥

५१ नाकुली (धवलबरुआ, सर्पगन्धा)

हि०—नकुलकन्द, नाकुलीकन्द, नाई, हरकार्क चन्द्रा, रास्नाभेद, छोट्याचंद। उड़ीसा, विहार—धनेरना, धनबरुआ, धवलबरुआ, सनीचाडी। बं०—नाकुली, गन्धरास्ना, चन्द्र। म०—अडकार्क, चन्द्र।
०—नोलवेल, अमेलपोदी। क०—सूत्रनाभि। ते०—पातालअग्नि। मा०—हरकय। मलया०—चुवना

अविलपोरी। फा०—छोट्याचन्दा। ले०—*Rauwolfia serpentina Benth. ex Kurz* (रॉवोल्फिया सर्पेन्टाइना)। Fam. Apocynaceae (एपोसाहनेसी)।

वैद्य समाज में नकुलकन्द भी एक सन्दिग्ध वनौषधि है।

कुछ लोगों ने नाकुली को ले०—एरिस्टोलोकिआ इन्डिका (*Aristolochia indica Linn.*), ईश्वरमूल लिखा है तथा श्री डा० बलवन्त सिंह जी भी उनसे सहमत होते हुए सर्पगन्धा नाम श्री उरी के (नाकुली) लिये तथा धवलबरुआ के लिए राजनिघण्टु का जम्बू नाम उचित समझते हैं जिसको श्री भगीरथ स्वामी ने माना है। प्राचीन ग्रंथों में केवल सुश्रुत के अमानुषोपसर्गाध्याय में मानसरोगरपरराजितगण में सर्पगन्धा नाम का उल्लेख मिलता है। यहां पर पहले वर्णन 'रावोल्फिया' का दिया जा रहा है जिसके बाद ईश्वरमूल का स्वतंत्र वर्णन दिया जावेगा।

धवलबरुआ के क्षुप हिमालय के निचले प्रदेशों में सरहिन्द से लेकर पूर्व में आसाम तक विशेष कर देहरादून, सिवालिक पहाड़ी भाग तथा रोहिलखण्ड, उत्तरी अवध और गोरखपुर के हिमालय के निचले भाग में ४००० फीट की ऊँचाई तक एवं कोंकण, उत्तरी कनारा, दक्षिणी महाराष्ट्र प्रान्त, मद्रास के पूर्वी तथा पश्चिमी घाट में ३००० फीट तक और विहार के अनेक भाग में जैसे पटना, भागलपुर तथा उत्तरी एवं मध्य बंगाल, बर्मा, इयाम और जावा आदि स्थानों में पाये आते हैं।

इसका क्षुप छोटा, आकार्षक, १ से २ फीट ऊँचा क्वचित ३ फीट तक ऊँचा होता है। पत्र—हरे, चमकीले, १-७ इंच लम्बे, ११-१२ इंच चौड़े, भालाकार या व्यस्तभालाकार, तीक्ष्णग्र या लम्बाग्र, आधार की ओर पतले होकर ३ इंच पत्रनाल से युक्त एवं टहनी के प्रत्येक गांठ पर ३-४ के चक्री में (Whorled)। पुष्प—श्वेत या साधारण गुलाबी गुच्छों में, २-४ इंच लम्बे पुष्प दण्डों पर। फल—छोटे, मांसल एक या दो दो जुड़े हुये पकने पर बैंगनी काले। मूल—सर्प की तरह टेढ़ा भेदा, करीब १६ इंच तक लम्बा, ११ इंच मोटा, खुरदरा, कुछ कुछ झुर्रियों से युक्त, शाखाओं से युक्त और उस पर लम्बाई में धारियां रहती हैं। इसे तोड़ने पर भंग्न छोटा एवं अनियमित। मूल की छाल धूसरित पीत (Greyish yellow) तथा अन्दर का काष्ठ श्वेताभ। स्वाद में अत्यन्त कड़वा तथा गन्धहीन। इसके मूल को तोड़कर कटे भाग पर २ भाग शोरे का तेजाब (Nitric acid) और १ भाग जल मिले घोल के २ बूँद डालने से मेड्युलरी रेज (Medullary rays) विशेष कर अन्तःचर्म (Cortex) के पास वाले भाग रंगीन हो जाते हैं। इस क्षुप के ३, ४ साल पुराने पौधे के मूल को शरदकाल में संग्रह कर छाल सहित सुखाकर व्यवहार में लाया जाता है।

रासायनिक संगठन—विहार में उत्पन्न मूल में सम्पूर्ण क्षाराम की मात्रा ०.८-१-३% रहती है जिसमें अजमॅलाइन (Ajmaline, $C_{20}H_{26}O_2N_2, 3H_2O$), अजमॅलीनाइन (Ajmalicine, $C_{20}H_{26}O_2N_2, 1.5H_2O$), अजमॅलीसाइन (Ajmalicaine) तथा पीत वर्ण के क्षाराम सर्पेन्टाइन (Serpentine, $C_{20}H_{20}O_3N_2, 1.5H_2O$), सर्पेन्टिनाइन (Serpentinine, $C_{20}H_{20}O_2N_2, 1.5H_2O$) तथा विना रवेदार (Amorphous) क्षार (Bases) रहते हैं। देहरादून से प्राप्त जड़ में सम्पूर्ण क्षाराम की मात्रा १-१-३% तक रहती है लेकिन उसमें पीत वर्ण के क्षाराम नहीं रहते तथा इसमें अजमॅलाइन और अजमॅलीनाइन के समसंगठन (Isomeric) वाले दो क्षार द्रव्य रहते हैं। इनके अतिरिक्त उभयविध प्रतिक्रिया (Amphoteric character) वाले कुछ दूसरे भी क्षाराम होते हैं। इन क्षारामों के अतिरिक्त इसके मूल में एक तैलीय रास (Oleoresin) और सर्पोस्तेरॉल (Serposterol, $C_{30}H_{48}O_2$) रहता है।